

धर्म का सामाजिक रूप

धर्म क्या है? धर्म का उद्देश्य क्या है? इसकी सीमा क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसकी उपयोगिता क्या है? वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप न जाने कितने प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। वैज्ञानिक प्रगति का धर्म के ठेकेदारों, मठाधीशों, समाज (धर्म) के कर्णधारों ने स्वार्थ के वशीभूत होकर मनचाहा प्रयोग किया है। आज जो धर्म हमें दिखाई पड़ता है उसका रूप बिगाड़ने या सँवारने में इन्हीं लोगों का हाथ है। ठीक बात कहने पर यही लोग हिंसा पर आ जाते हैं। क्या एक धर्म दूसरे धर्म का शत्रु हो सकता है? इसकी पड़ताल करनी होगी। धर्म में व्याप्त संकीर्णता, जड़ता, अशिक्षा, भाग्यवादी प्रवृत्ति, ठेकेदारी का विरोध सदैव होता ही रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि धर्म को वर्ग विशेष, मत विशेष से निकालकर तटस्थ, स्वस्थ और वैज्ञानिक दृष्टि अपनाकर सामाजिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में मौलिक विश्लेषण दृष्टि से धर्म को समझने का प्रयास किया गया है।

आज का दौर भूमण्डलीकरण का दौर है। बाजार का दबाव हम पर हावी होता जा रहा है। सूचना और संचार क्रान्ति ने हमारी जीवन शैली को नयी दिशा दी है। किसी चिन्तन पद्धति की उपयोगिता की समीक्षा की जा रही है। इस सुविधा सम्पन्नता के दिखावटी रूप में भौतिक पक्ष हावी है। किसी गम्भीर, तात्विक, सर्वथा नए रूप की कल्पना करना कठिन है। अतः परम्परा को ही खंगाल कर कुछ नवीन कहा जाए तो शायद काम बन जाए। यहाँ इसी दृष्टि का प्रयोग किया गया है।

वर्तमान समय में धर्म कई अर्थों में प्रयुक्त हो रहा है। उन सभी अर्थों को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार में धर्म का विशेषण के रूप में सम्बन्ध सूचक शब्दों के प्रारम्भ में लगनेवाले रूप में प्रयुक्त होता है जैसे धर्म-पत्नी, धर्म-पिता, धर्म-भाई, धर्म-माता आदि। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो नवीन सम्बन्ध की प्रगाढ़ता को व्यक्त करने को 'धर्म' माना जा सकता है। विभिन्न जटिल मानवीय सम्बन्धों का विकास समाज कहलाता है। धर्म नए विकसित सम्बन्धों में निकटता लाने का प्रयास करता है। आज इसी धर्म को अपनाने की आवश्यकता है।

समाज में इस शब्द का प्रयोग विषमता, घृणा, टूटन और अजनबीपन में हो रहा है। इसे दूर करना आवश्यक है। संक्षेप में माना जा सकता है कि मानवीय सम्बन्धों में निकटता प्रेम, विश्वास भाव का उदय ही धर्म है। धर्म के इसी रूप को स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

दूसरे प्रकार में धर्म शब्द पाँच अर्थों में प्रयुक्त होता है। वे इस प्रकार हैं

- (1) ईश्वरीय आराधना, उपासना, श्रद्धा और पूजा-पाठ।
- (2) लौकिक एवं सामाजिक कर्तव्य।
- (3) पदार्थ के मूलभूत गुण बताने में। जैसे सुखाना वायु का धर्म है।
- (4) नैतिक एवं व्यावहारिक नियम-पालन।
- (5) नैतिक एवं मानवतावादी गुण जैसे सदाचार, पुण्य, सत्कर्म, न्यायशीलता और विवेक।

उपर्युक्त पाँचों अर्थों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो पदार्थ के मूलभूत गुण बताने के अर्थ में 'धर्म' भौतिक वस्तु की विशेषता को द्योतित करता है। यदि जलाना आग का धर्म है तो मानवीय स्पन्दन की तीव्र अनुभूति मनुष्य का धर्म माना जा सकता है। हमें इसी मानवीय स्पन्दन को महत्व देना है। मोह ने इसे नियन्त्रित कर रखा है। सुविधा का मोह घर करता जा रहा है। अतः हम अपनी सुविधा के लिए धर्म को ईश्वरीय आराधना के विकृत रूप मतवाद, वर्गवाद, स्थानवाद में केन्द्रित कर देते हैं। यही वर्तमान मनुष्य की विडम्बना है। हम हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि मतों में धर्म को ढूँढ़ रहे हैं। कर्मकाण्ड प्रत्येक मत की अस्मिता, प्रगति और सामाजिक आवश्यकता के प्रतिफल हैं। हमने उसे ही साध्य मान लिया है। साधनों से कुछ नहीं होता। सामाजिक आवश्यकता के दबाव से कर्मकाण्डों में परिवर्तन होता रहता है। इस ओर समाज का जनमानस जागरूक हो रहा है। हमारा कर्तव्य है कि धर्म के विकृत रूप को सही करें। जहाँ ईश्वरीय आराधना, उपासना, पूजापाठ के अर्थ में धर्म के प्रयोग की बात है उसमें साधना, कर्म, त्याग, कर्तव्यपरायणता और विवेक पर बल है। अधिकार फल पर नहीं है। इसका उद्देश्य मनुष्य भयमुक्त, कर्मठ और

उज्ज्वल बनाने का है। हमें इसी रूप में धर्म को अपनाना है। राम, कृष्ण, हजरत मुहम्मद, ईशु, गुरुनानक, वाल्मीकि, कबीरदास, तुलसीदास और गाँधी सभी सामाजिक व्यवस्था के उत्तम उदाहरण हैं। इनका अनुकरण करके इनको उन्नत करने के लिए उधम करें तो वही धर्म माना जा सकता है। बाकी अर्थों पर वेदों, उपनिषदों, धर्मशास्त्रों तथा आचार ग्रन्थों में काफी लिखा गया है यहाँ उन पर विचार करना पुनरावृत्ति मात्र होगी। को

तीसरे प्रकार में 'धर्म' साहित्य में प्रयुक्त होता है। व्याकरण की दृष्टि से 'धर्म' 'धृ' धातु से बना है। इसका अर्थ है धारण करना। जो मानवता को धारण करे वही धर्म कहा जा सकता है। जो सम्पूर्ण मानव जाति की चिन्ता करे, उन्हें साथ लेकर चलने का प्रयास करे वही धर्म माना जाता है। इस रूप में धर्म को स्वीकार करने में संकोच हो रहा है। इसका मुख्य कारण मनुष्य की सुविधाभोगी प्रवृत्ति है। हम उपभोक्तावादी प्रवृत्ति के दास होते जा रहे हैं। हमें इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना ही होगा।

काव्यशास्त्र में अलंकार सम्प्रदाय में कहा जाता है कि उपमेय एवं उपमान को समान करने की वृत्ति (धम) उपमा अलंकार कहलाता है। यहाँ यह अर्थ विशेष विचारणीय है। उपमेय आज का समाज और मनुष्य है। विभिन्न उदाहरण जो समाज के प्रतिनिधि माने जाते हैं वे उपमान हैं। जब वर्तमान मनुष्य (उपमेय) की उदाहरण (गाँधी आदि) रूपी उपमान के समान वृत्ति होगी धर्म की प्रतिष्ठा होगी और तभी धर्म अस्तित्व में आएगा नहीं तो दोनों की दिशाएँ अलग-अलग होंगी। आज के समाज को दिशा-निर्देश उदाहरणों से ही प्राप्त होगा। ऐतिहासिक, पौराणिक घटनाएँ भी उदाहरणों के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। जब तक उन्हें केवल दिव्य पुरुष या भगवान तक सीमित किया जाएगा तब तक आज का समाज जड़ता, शास्त्रीयता, परम्परावादिता, मोहवादिता आदि से छूट नहीं सकता। इसी कारण आज का मनुष्य संकीर्णता के वशीभूत होकर ऐतिहासिक, पौराणिक और 'आप्त वाक्यों' का सहारा लेकर लड़ रहा है। ऐसी दृष्टि समाज के लिए अनुपयोगी है। लोकतन्त्र में इन माध्यमों से एक बार सत्ता तो पाई जा सकती है परन्तु स्थायित्व नहीं। यह स्थिति धर्म की नहीं है वरन् जड़ता, अनिश्चय और अन्धकार की है। रोटी, कपड़ा और मकान की बुनियादी जरूरतों का पूरा होना धर्म है। बिजली, पानी और सड़क की आवश्यकता की पूर्ति कराना हमारा धर्म है। हम अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर देंगे तो वही धर्म का सही रूप माना जा सकता है।

भारत में विकसित शैव-सम्प्रदाय

भगवान शिव को ही परमेश्वर स्वीकार करने वाले को शैव कहा जाता है। इन अनुयायियों के धर्म को शैवमत के रूप में जाना जाता है। शिव का अर्थ शुभ अर्थात् कल्याणकारी शैवमत का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों को शैवा गम कहते हैं।

प्राचीन समय में प्रकृति के ध्वंसकारी दृश्यों को देखकर मानव ने भयंकर रुद्र की कल्पना की होगी। रुद्र का भयंकर रूप बाद में शिव अर्थात् कल्याणकारी परमेश्वर। के रूप में परिवर्तित हो गया। वेदों का रुद्र उपनिषदों में शिव के स्वरूप से थोड़ा ही मेल खाता है।

माहेश्वर, पाशुपति और शैव इन सम्प्रदायों में किसी प्रकार की समानता नहीं है। महाभारत में माहेश्वर सम्प्रदाय की चार शाखाओं-शैव, पाशुपत, कालदमन और कापालिक का उल्लेख मिलता है। महाभारत के समय तक जितने भी शिव साधना के मार्ग विकसित हुए रुद्र से लेकर शिव तक की विकास यात्रा का परिचय मिलता है। ये सभी सम्प्रदाय शिव को ही परमेश्वर मानते हैं। इन सभी को सामूहिक रूप में शैव कहा जाता है।

वेदान्त दर्शन के बाद भारतीय समाज में भक्ति की अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठा हुई। आलवार और नयनार भक्तों ने भक्ति आन्दोलन का श्रीगणेश किया। दोनों की कर्मस्थली तमिल प्रान्त रही। आलवार वैष्णव भक्ति और नयनार शैव भक्ति को मानता रहा। तमिल ग्रन्थ 'दिव्य प्रबन्धम्' में दोनों प्रकार के भक्तों की मूल प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इन भक्तों का भक्ति के शास्त्रीय रूपों से उतना सम्पर्क नहीं था ये नाम संकीर्तन, ईश्वर गुणगान, प्रभु लीला गायन, सन्त रहीम आदि का प्रचार करने वाले थे।

16वीं सदी तक शैवमत कई शाखाओं में बँट गया था। इसका कारण विभिन्न जातियों द्वारा शिव को अपनी प्रवृत्ति साधना और आवश्यकता के अनुरूप ग्रहण करना था। इस समय तक छः शैव सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है।

1. पाशुपत सम्प्रदाय - इस सम्प्रदाय में पाँच पदार्थों को स्वीकार किया गया है-कार्य, कारण, योग विधि और दुखान्त। जड़ और जीव कार्य हैं। जड़ ही पाश है जीव पशु है। परमात्मा को कारण कहा गया है। परमात्मा को शास्त्रीय भाषा में पति कहा गया है।

चित्र द्वारा जीव (पशु) और परमात्मा (पति) के संयोग को योग कहा गया। इस कारण इस सम्प्रदाय को पाशुपत सम्प्रदाय कहा गया। परमात्मा अर्थात् पति को प्राप्त करनेवाले मार्ग को विधि कहा जाता है। दुःखों का नाश दुखान्त इस सम्प्रदाय की साधनाएँ वीभत्स हैं। इस सम्प्रदाय का मूल केन्द्र गुजरात प्रान्त रहा।

2. शैव सम्प्रदाय - इस सम्प्रदाय का मूल केन्द्र तमिल प्रान्त रहा। इसमें पति, पशु और पाश तीनों तत्त्वों को स्वीकार किया गया है। पति परमात्मा है। जीव पशु है। पाश (जड़) चार प्रकार के हैं-मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। जीव (पशु) परमात्मा (पति) की कृपा से पाश रहित (जड़ रहित) हो जाता है। यही जीव की मुक्तावस्था है। शैव सम्प्रदाय इसी मुक्तावस्था को प्रमुखता देता है।

3. काश्मीरी शैवमत - काश्मीरी शैव दर्शन अद्वैतवादी है। शिव शक्ति की एकता, अर्द्धनारीश्वर रूप की कल्पना इस सम्प्रदाय की विशेषता मानी जा सकती है। शिव के 'नटराज', ताण्डव नृत्य की कल्पना इसी सम्प्रदाय की देन है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय है इसे 'प्रत्यभिज्ञादर्शन', 'त्रिदर्शन' और 'ईश्वरीय द्वयवाद' भी कहा जाता है इस सम्प्रदाय को शैवमत में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। इसी सम्प्रदाय में शिव के कल्याणकारी रूप की व्याख्या मिलती है। शैव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या के साथ भक्ति की स्वीकृति भी मिलती है।

4. वीर शैवमत - इस सम्प्रदाय में शिव को लिंग रूप में ग्रहण कर लिंग पूजा का विधान किया गया। श्रीकण्ठ ने वीर शैव मत की स्थापना की। श्रीकण्ठ ने 'श्रीकण्ठभाष्य' नामक ग्रन्थ में लिंग पूजा का विधान किया। इसका मूल केन्द्र कर्नाटक प्रान्त रहा। इसे लिंग सम्प्रदाय भी कहा जाता है। लिंग को ज्योति स्वरूप माना गया। भारत के बारह ज्योतिर्लिंगों की स्थापना इसके अखिल भारतीय स्वरूप को व्यक्त करती है। रामेश्वरम् से लेकर केदारनाथ दूसरी ओर सोमनाथ से लेकर बैजनाथ (देवधर) तक लिंगों की व्याप्ति इस सम्प्रदाय के विकास को प्रस्तुत करते हैं। -

5. कापालिक सम्प्रदाय - यह सम्प्रदाय शिव के रुद्र रूप को ही परमेश्वर मानता है। पाशुपत सम्प्रदाय की वाममार्गी की साधना का इस सम्प्रदाय पर प्रभाव साधना क्षेत्र शमशान का क्षेत्र रहा।

6. कालामुख सम्प्रदाय - साधना के स्तर पर यह सम्प्रदाय वाममार्गी है। इसकी साधना पद्धतियाँ वीभत्स हैं। दोनों ही साधना पद्धतियों में मदिरा, योनिपूजा शव पूजा, बलिप्रथा आदि साधनाओं का विकास हुआ। दोनों की सम्प्रदाय शिव के रुद्र रूप को स्वीकार करते हैं वर्ग रुद्र -आज शैवमत प्रधान रूप में तीन भागों में दिखाई पड़ता है। एक रूप शिव को परमेश्वर मानता है। दूसरा वर्ग शिव (कल्याणकारी) को अपना परमेश्वर मानता है।

इस वर्ग में शिव के साथ कलाओं का एकीकृत रूप दिखाई पड़ता है। तीसरा वर्ग श्रीकण्ठ के रूप में दिखाई पड़ता है। जिसमें शिव ज्योति के रूप में स्वीकार किए गए हैं। वे ज्ञान की राशि हैं। इस ज्योति रूप का लौकिक रूप 'लिंग' में प्रतिष्ठित किया गया। लिंग पूजा की शास्त्रीय व्याख्या भारतीय समाज की प्रकृति के अनुरूप। प्रस्तुत की गई। गृहस्थों की समीपता के कारण ही इस सम्प्रदाय को प्रतिष्ठा ही नहीं मिली अपितु प्रसार भी मिला। 'नयनार' भक्तों की रुचि भी इसी सम्प्रदाय में अधिक दिखाई पड़ती है। शिव पुराण में भी लिंग रूप की पूजा को प्रतिष्ठा मिली है। अतएव लिंग सम्प्रदाय के रूप में भगवान शिव को समाज ने स्वीकार किया। तुलसीदास के राम सेतु पर चढ़ने से पूर्व रामेश्वरम् में शिव के लिंग की स्थापना करते हैं। यह प्रसंग लिंग पूजा की अखिल भारतीय स्वरूप की प्रस्तुत कर देता है। एकता को

मानस का धर्ममय रथ : एक दृष्टि

भारतीय मानस को प्रस्तुत करनेवाले दो ग्रन्थों को समाज में बड़ी प्रतिष्ठा मिली हुई है। पहली रचना गोस्वामी तुलसीदास की रचना 'श्रीरामचरित मानस' है। दूसरी रचना 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। दोनों ही गेय काव्य हैं। दोनों ही काव्यों की रचना में दिव्य पुरुषों का योगदान है। अर्जुन के मोह को समाप्त करने के लिए श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश काव्य 'गीता' है। तुलसीदास ने रामचरितमानस की कथा का रचयिता भगवान शंकर को माना है।

'गीता' निर्माण का मूल कारण अर्जुन मोह है। रामचरित मानस के लंकाकाण्ड में धर्ममय रथ प्रसंग विभीषण की शंका है। दोनों व्यक्तियों की शंकाओं का समाधान दिव्य पुरुष ही करते हैं। श्रीकृष्ण गीता उपदेश से और श्रीराम 'धर्ममयरथ' के रूप में विभीषण की शंका का समाधान करते हैं। धर्म स्थापना दोनों ही कृतियों का प्रमुख उद्देश्य माना जा सकता है। दोनों प्रसंग मानवीय कार्यों, विचारों और सन्दर्भों को नवीन दृष्टि से देखने का प्रयास करते हैं।

**श्रीरामचरित मानस के लंकाकाण्ड में राम रावण युद्ध से पूर्व विभीषण ने राम को रथविहीन देखकर पूछा
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना।**

केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥

यहाँ विभीषण की शंका अर्जुन के मोह से मेल खाती है। यहाँ राम कर्म करने वाले हैं। विभीषण रावण के रथ और रणकौशल से परिचित है। रावण दिग्विजयी है। उसके सामने राम का रथ से हीन और शरीर तथा पैरों में सुरक्षा कवच नहीं होने से विभीषण की चिन्ता स्वाभाविक है। युद्ध जमीन के धरातल पर लड़े जाते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि शस्त्रों और अस्त्रों की असमानता की बात नहीं की गई है। विभीषण शस्त्रों और अस्त्रों में राम-रावण को बराबर मानता है। अतः सम्पूर्ण अस्त्रों व शस्त्रों से लैस होने पर किन उपकरणों की आवश्यकता होती है उनको राम ने विस्तार से विभीषण के सामने वर्णित किया है।

राम ने जिस 'धर्ममय रथ' को प्रस्तुत किया है वह सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। बिना मानवीय पक्ष को आत्मसात् किए अमेरिका की तरह किसी की भी अफगानिस्तान' और 'ईराक' जीत होकर भी हार हो सकती है। अमेरिका वहाँ तन, मन, धन देकर भी आम जनता में विश्वास पैदा कर पाया है यह विचारणीय है।

हमें कई सामाजिक, पारिवारिक और मानसिक स्तर पर दैनिक व्यवहार में प्रत्येक दिन युद्ध लड़ना ही पड़ता है। कभी विपक्ष में हमारा आचरण ही शत्रु बन जाता है। उस समय सांसारिक रथ से काम नहीं चलता। धर्ममय रथ के उपकरणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

धर्ममय रथ

- (1) रथ के दो पहिए जेड - शौर्य और धैर्य।
- (2) रथ की ध्वजा एवं पताका - सत्य और शील।
- (3) रथ के चार घोड़े - बल, विवेक, दम और परोपकार
- (4) घोड़ों को जोड़ने वाली रस्सी - क्षमा, दया और समता।
- (5) रथ का सारथी ईश्वर गुणगान।
- (6) रथ में रखे जाने वाले उपकरणों का वर्णन

- (क) ढाल - वैराग्य।
(ख) तलवार - सन्तोष
(ग) फरसा - दान।
(घ) प्रचण्डशक्ति - बुद्धि
(च) धनुष - श्रेष्ठ विज्ञान।
(छ) तरकश - निर्मल, स्थिर मन
(ज) बाण- शम, नियम और नम्रता।
(झ) कवच - ब्राह्मण और गुरुपूजा।
(7) रथ का सवार - संसार का प्रत्येक प्राणी।

मानवीय और कर्मप्रधान रथ पर सवार होकर किसी भी युद्ध को लड़ा जा सकता है। धर्ममय रथ मनुष्य का मन माना जा सकता है। जब तक मन, कर्म द्वारा तपेगा नहीं युद्ध में जाया ही नहीं जा सकता। सभी अपेक्षाएँ मनुष्य को कर्म में प्रेरित करती हैं। कर्म से विमुख होने पर मनुष्य जड़ता, निष्क्रियता और अवसरों से हाथ धो बैठता है।

मनुष्य का धर्ममय रथ निर्मित करने के लिए शौर्य और धैर्य रूपी पहिए का होना आवश्यक है। जल्दबाजी या अति उत्साह दोनों ही नुकसानदेह है। शौर्य और धैर्य किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने की पहली शर्त होती है। भावावेश धैर्य और शौर्य को प्रभावित करता है। अतः शौर्य के साथ धैर्य का होना आवश्यक है।

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के लिए दूसरी आवश्यकता ध्वजा और पताका की होती है। ध्वजा सत्य आचरण से और पताका शील से सम्बन्धित होती है। झूठ और उतावलापन कार्य की सम्पूर्णता में बाधक है। साफ उद्देश्य को शालीनता से प्रस्तुत करना अनिवार्य है।

मनुष्य के धर्ममय रथ के लिए चार घोड़ों की आवश्यकता होती है। मनुष्य को बल, विवेक, इच्छाओं को दमन करने की शक्ति और परोपकार की भावना की आवश्यकता होती है।

मनुष्य की चार विशेषताएँ मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रस्तुत करने वाली हैं। भाड़े के लोगों के दम पर कार्य करना मनुष्य की दुर्बलता को बताता है। उचित-अनुचित में निर्णय करने की क्षमता विवेक कहलाती है। अहं का नाश और परोपकार की भावना मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाती है। सभी को क्षमा, दया और समत्व की दृष्टि से बाँधना होगा।

क्रोध, मोह और लोभ की प्रवृत्ति बाधक है। अतः मनुष्य में तीन दृष्टियों की प्रतिष्ठा होना जरूरी है। क्षमा बलवान ही कर सकता है, दया भाव का अनुसरण शक्तिवान ही कर सकता है। समदृष्टि मोह को समाप्त करने से होगी। स्वार्थीपन छोड़ने पर ही समदृष्टि आ पाती है।

रथ को चलानेवाला ईश्वर गुणगान (भजन) है। भजन का अर्थ ढोलक पीटना, चिमटा बजाना या ताली पीटना नहीं है। भजन से अभिप्राय मनुष्य की क्रियाशीलता को बढ़ाना है। मनुष्य ही भगवान बन सकता है इस सूक्ष्म दर्शन को व्यंजित करना ही ईश्वर गुणगान है। ईश्वरवादी या भाग्यवादी ही

करना नहीं है। भजन करने का है अर्थ मनुष्य की क्रियाशीलता को बढ़ाना है। जीवन के प्रति अनुराग का विकास ईश्वर का गुणगान माना जा सकता है। रथ में उपयोगी वस्तुओं में ढाल रूपी वैराग्य होना आवश्यक है।

वैराग्य पलायन से सम्बन्धित नहीं है। वैराग्य से अभिप्राय जीत या हार के द्वन्द्व से ऊपर उठकर कार्य करना चाहिए। सफलता मिल गई तो ठीक नहीं तो हार होगी। इस भावना से कर्म करने पर मनुष्य में निराशा नहीं आएगी। कर्म करने के प्रति सन्तोष रूपी तलवार होनी चाहिए। यदि कर्म से सन्तुष्टि नहीं होगी तो मनुष्य आत्मदाह की ओर अग्रसरित होता है। दान रूपी फरसा लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। यदि बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है तो शास्त्रों के उपभोग की तकनीक नहीं समझी जा सकती। अतएव बुद्धि तेज होनी चाहिए। तरकश रूपी निर्मल और स्थिर मन की उपयोगिता है।

यदि मन संशय ग्रस्त और भटकावों से युक्त होगा तो युद्ध में हार निश्चित है। अतः मन का निर्मल और स्थिर होने से अभिप्राय लक्ष्य के प्रति स्पष्टता और स्थिरता से है।

तृष्णाओं का शमन, नम्रता और नियम का पालन रूपी बाण ही प्रमुख गुण हैं। धनुष रूपी नवीनतम वैज्ञानिक उपकरणों की जानकारी आवश्यक है। धनुष बाण में उचित समन्वय होना चाहिए। ब्राह्मणों और सत् गुरु के विचारों में पूर्ण विश्वास कवच कार्य करते हैं।

ऐसा धर्ममय रथ होने पर ही संसार का कोई व्यक्ति सवार होकर तगड़े शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। इससे सांसारिक दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से लड़ा जा सकता है। प्रान्तीयता, वैमनस्य, छल, कपट और रावण रूपी अहं से लड़ने के लिए इस धर्ममय रथ की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। नहीं तो हमें हर वर्ष 100 फुट का रावण जलाने की परम्परा का निर्वाह करना ही पड़ेगा। यह रावण इतना ढीट है कि हर वर्ष मरकर पुनः जीवित हो उठता है। उसको परास्त करना ही होगा।

तुलसीदास की नवधा भक्ति

तुलसीदास की भक्ति का मुख्य आधार दास्य भाव है। भारतीय परम्परा में उक्ति मिलती है-“नत्वे आर्यस्य दास्य भावः ।” अर्थात् आर्यों में दास्य भाव को स्वीकृति नहीं प्राप्त है। फिर तुलसीदास की रामभक्ति में 'दास्य भाव' को प्रतिष्ठा मिली है। ऐसा क्यों हुआ? यह शोध का विषय है। आर्य-अनार्य और शैव-वैष्णव की एकता दिखाकर उत्तर देने का प्रयास किया गया है। विष्णु भक्ति के नौ प्रकार माने गए। श्रीमद्भागवत में उल्लेख मिलता है

श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वंदनं दास्य, सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

आरण्यक ग्रन्थों में भक्ति के चार रूप श्रवण, मनन, निदि ध्यास और साक्षात्कार का ही उल्लेख मिलता है। भागवतकार ने उनकी संख्या नौ कर दी इसका कारण ऐतिहासिक परम्परा में खोजा जा सकता है। राजनीतिक हार, सामाजिक कुरीतियाँ, आर्थिक विपन्नता, चिन्तन में संकीर्णता, अस्पृश्यता, नवीन के प्रति नफरत की प्रकृति आदि कारण दिखाई देंगे। तुलसीदास की विवशता थी कि वे दास्य भाव को अपनाते। तुलसीदास की रामभक्ति में रामकथा का उद्देश्य¹

मंगल कसनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।

रामभक्ति में दास्य भाव की प्रतिष्ठा के कारण-

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिउ उरगारि ॥

यदि संसार के द्वन्द्वों से छुटकारा पाना है तो दास्य भाव अपनाना ही होगा। यहाँ दास्य भाव ऐसी तकनीक का संकेत करती जो सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर कर सकती है। उनकी भक्ति शास्त्रीय, सैद्धान्तिक मतवादी और सामन्तों को प्रसन्न करने वाली नहीं थी। उनकी भक्ति का स्रोत भारतीय समाज था। लोक मंगल उनका प्रमुख उद्देश्य था। यह कार्य उस समय ही नहीं आज भी सेवक सेव्य भावना द्वारा ही संभव है। दास्य भाव में संभावनाएँ अधिक हैं।

महीसुरों के श्रापमूलक जीवन पद्धति की परीक्षा, देवताओं द्वारा केवल पुष्पवर्षा करना, आदि ऐसे कार्य हैं जो पराधीन समाज के खोखले आदर्शों, अहं, संकीर्णता, समझौतावादी, स्वार्थीपन, भौतिकवादी प्रवृत्ति की समीक्षा दास्य भाव से ही हो सकती है। दास्यभाव की नई तकनीक को मानस के अरण्यकाण्ड में देखा जा सकता है। राम शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। यह 'नवधाभक्ति' भागवतकार के नवधा भक्ति से अलग है। शबरी को दिया गया उपदेश मध्यकालीन चिन्तन का प्रतिफल है। शबरी को दिया गया उपदेश इस प्रकार है

प्रथम भगति संतन्ह कर संग।...मम भरोस हियँ हरष न दीना।

इन नौ प्रकार को इस प्रकार रख सकते हैं

पहली भक्ति - सन्तों का संग।

दूसरी भक्ति - रामकथा में रति।

तीसरी भक्ति - गुरुपद पंकज सेवा।

चौथी भक्ति - रामगुणों का कपट सहित गान।

पाँचवी भक्ति - मन्त्र जप और दृढ़ विश्वास ।

छठी भक्ति - इन्द्रियों का निग्रह।

सातवीं भक्ति - जगत भर को राममय देखना।

आठवीं भक्ति - जितना मिले उसमें सन्तुष्टि और छिद्रान्वेषण करना।

नौवीं भक्ति-सरलता, कपट रहित बर्ताव।

इस भक्ति को शस्त्रीय मान्यता नहीं है। यह भक्ति सही रूप में प्रस्तुत की जानी चाहिए थी जिसे आज तक नहीं किया गया। इसमें शब्दों के यह अर्थ नहीं ग्रहण किए जा सकते जो शब्द कोशों, या सरलार्थों में दिया जाता है। प्रयुक्त शब्द सही अर्थ की माँग करता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर वह एकाकी और कूपमण्डूप नहीं रह सकता। यदि मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध करनी है तो समाज में सम्बन्ध बढ़ाना ही होगा। यदि चिन्तन में नवीनता और गति लानी है, असत्य, ढोंग, दिखावा को खत्म करना है तो लोगों के बीच रहना ही होगा। सन्तों को गुरुआ वस्त्रधारी रूप में संकीर्ण करके नहीं रखना चाहिए। सन्त वह जो निष्काम भाव से कर्म करे। ऐसे सन्त का संग करने से आम जनता के नजदीक आने से दृष्टि में नवीनता आती है। ड्राईंग रूम, काफी हाउस वातानुकूलित कमरे में बैठकर केवल पुस्तकों के विद्वान बनने से बौद्धिक बोझिलता ही पैदा की जा सकती है। लोगों के बीच रहकर, उन्हीं की भाषा में उन्हीं प्रवृत्ति के अनुरूप कार्य करने में ठोसता आती है। यही ठोसता नवीन सृजन का आधार तैयार करती है।

रामकथा में रति (प्रेम) राम के आदर्शों के अनुकरण से सम्बन्धित है। सब में रमी हुई, मानवीय स्पन्दन से पूर्ण, संवेदनशील। राम-कथा में प्रेम होना चाहिए। राम-कथा का उद्देश्य लोक कल्याण है अतः लोक मंगल ही एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। यदि संवेदनशील, लोकमंगल की भावना में विश्वास ही दूसरे प्रकार की भक्ति है। मानव समाज की समस्याओं के प्रति सजगता महत्त्वपूर्ण है।

71 तीसरे प्रकार की भक्ति 'गुरुपद पंकज सेवा' का अर्थ गुरु की शिक्षा की समीक्षा करने से है। गुरु के यहाँ गेहूँ पहुँचाना, गेहूँ पिसवाना, कपड़े धुलवाना, बच्चे पढ़ाना, घर साफ करना वाला अर्थ नहीं है। मानवीय दुर्बलताओं के समाज में समाज सापेक्ष गुणों का प्रचार ही 'गुरु पद पंकज सेवा' है। जिस प्रकार कमल कीचड़ में उत्पन्न। होकर भी उपयोगी होता है ठीक उसी प्रकार गुरु की शिक्षा का समाजोन्मुखी प्रयोग और व्याहारिक धरातल पर पहचान करना ही सच्ची सेवा है। गृहस्थ जीवन में विद्यार्थी जीवन के समय में ज्ञान को व्यावहारिक धरातल पर लागू करना होता है। मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ और परिवार की आवश्यकताओं के सामने उस शिक्षा का व्यावहारिक रूप में अपना सकता है, यही गुरुसेवा की कसौटी है।

चौथे प्रकार की भक्ति में रामगुणों का कपट रहित गुणगान है। यदि कपट है रखकर गुणगान करेंगे तो 'बगुला भगत' ही कहे जाएँगे। कपट छोड़कर ही किसी कार्य को करना चाहिए। लोक सेवा का ढोंग करना व्यर्थ है। इसी कारण आज भारतीय समाज में लोक सेवकों (राजनेताओं) की कपटता स्वयं सिद्ध हो रही हैं चाटुकारिता, भ्रष्टाचार, रिश्वत, सिफारिश आदि उसी कपटता के लौकिक रूप हैं। स्वार्थ के वशीभूत किसी की भी प्रशंसा दीर्घकालीन दृष्टि से उचित नहीं है।

पाँचवें प्रकार की भक्ति में मन्त्र जप और दृढ़ विश्वास के अभिप्राय अपने कर्म के प्रति लगन और उस लगन के प्रति दृढ़ विश्वास से है। कर्म द्वारा ही लक्ष्य मिलेगा। छोटा रास्ता कभी श्रेयस्कर नहीं होता। अतः अपने कर्म पर विश्वास ही पाँचवें प्रकार की भक्ति है। हम

छठे प्रकार की भक्ति में इन्द्रियों (इच्छाओं) का निग्रह करना है। यदि इच्छाओं के दास हो गए तो हमारी समस्या प्रारम्भ हो जाएगी। आवश्यकता भर मिल जाने के बाद और अधिक माँग करना, उसकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित तरीकों का प्रयोग करना इच्छाओं का दास बनना है। अनुचित कार्यों का परित्याग इन्द्रियों का निग्रह माना जा सकता है। ईर्ष्या,

ही साँतवें प्रकार की भक्ति में जब सभी कुछ राम मय है। तो वैर, वैमनस्य, जलन, अनावश्यक प्रतियोगिता किसलिए? रामत्व रूप में संसार को देखना एकत्व की अनुभूति कराता है। जैसी पीड़ा, चिन्ता, उत्तरदायित्व बोध हममें है उतना ही दूसरे में है। मानव मात्र की चिन्ता करना ही राममय होना है।

आठवें प्रकार की भक्ति में जितना मिले उतने में सन्तोष करना ठहराव का सूचक नहीं है। जितना मिला है उसमें छिद्रान्वेषण (दोष) न देखना ही सन्तोष है। जो दूसरों में छिद्र देखते हैं या जितना मिला है उसमें सन्तुष्ट नहीं होते उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते। अपने उत्तरदायित्व का कुशलता पूर्वक निर्वाह का प्रयास ही सन्तोष कहा जा सकता है। दोष ही देखने वालों की सोच नकारात्मक होती है। वे सकारात्मक हो ही नहीं सकते। अतः लोग भी उनसे भागते हैं।

नौवें प्रकार की भक्ति सरल जीवन जीने और कपट रहित व्यवहार करने से है। यदि सरल जीवन नहीं होगा तो कपटपूर्ण व्यवहार होगा ही। अतः जीवन चर्चा सरल होनी चाहिए।

इस नवधा भक्ति में मानवीय स्पन्दन और मानवीय विवशता के फलस्वरूप नई प्रवृत्तियों की समस्याओं को देखा जा सकता है। उनका समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। अतः भारतीय परिवार और समाज में विघटनकारी तत्त्वों से निपटने के लिए, नए ज्ञान विज्ञान के फलस्वरूप नई संरचना में मानवमूल्यों की प्रतिष्ठा करने में तुलसी की नवधा भक्ति को समझना आवश्यक है। इसी प्रकार मानस में वर्णित कलियुग वर्णन, तालरूपक, धर्ममय रथ आदि रूपकों का अध्ययन अपेक्षित है। मुक्त मन से तुलसीदास के साहित्य की समीक्षा होनी चाहिए।

मानव शरीर की उपयोगिता

श्रीरामचरित मानस में भगवान राम ने स्वयं कहा है कि

बड़े भाग मानुष तन पावा ॥

सुर दुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा ।।

बड़े भाग्यशाली हैं कि हमें मानव शरीर मिला है। यह तन कर्म करने के लिए मिला है। 'बड़े भाग' शब्द भाग्यवादी होने के लिए नहीं प्रयुक्त किया गया है। यदि चौरासी लाख योनियों में भटकने की बात छोड़ भी दी जाए तो भी मानव शरीर को विज्ञान की दृष्टि से उत्तम माना गया है। मानव शरीर की संरचना सभी जीवों की शरीर रचना से श्रेष्ठ मानी गई है। मानव शरीर में ही मस्तिष्क विकसित रूप में दिखाई पड़ता है। विवेक ज्ञान इसी मानव शरीर में सम्भव है। अन्य जीवों में उचित-अनुचित के निर्णय लेने की क्षमता नहीं होती।

भारतीय धर्मग्रन्थों में मानव शरीर को दुर्लभ माना गया है। देवताओं को मानव शरीर नहीं मिला है। उनके शरीर की रचना मानव शरीर की संरचना से अवश्य भिन्न होगी। दूसरी ओर देवताओं के हाथ में फल देने की शक्ति है। फल देने वाला कमी श्रेष्ठ होगा इसमें सन्देह है। न्यायधीशों के निर्णय भी गलत हो जाते हैं। 'पंच परमेश्वर के निर्णय किसी से छुपे नहीं हैं। यही स्थिति देवताओं के वरदान देने की शक्ति की है। वे ऐसे वरदान दे देते हैं जो सम्पूर्ण मानवता के लिए खतरा बन जाते हैं। हिरण्य-प-कश्यपु, जरासन्ध आदि नाम बताए सकते हैं। अतः देवताओं की वरदान देने की शक्ति ही मानवता के लिए संकट पैदा करती रही है। रावण,

तीसरी ओर देवताओं की प्रवृत्ति स्वार्थी रही है। स्वार्थ की प्रवृत्ति इन्द्र द्वारा जबरन यज्ञभाग को प्राप्त करने में देखी जा सकती है। यज्ञ भाग बिना परिश्रम के मिलता है। परिश्रम ऋषि करते थे और यज्ञ भाग इन्द्र आदि देवता हड़प कर जाते थे। वे सुविधा-भोगी, आलसी और कामचोर हो गए थे। किसी भी आदर्श की स्थापना देवताओं के लिए कठिन थी। सम्भवतः इसी कारण भारतीय चिन्तन पद्धति में 'अवतारवाद' की प्रतिष्ठा मानी गई होगी। विष्णु के कई अवतारों का उल्लेख देवताओं का प्रायश्चित्त दिखाई पड़ता है।

देवता सदाचरण के अभाव में वेदों की रक्षा नहीं कर पा रहे थे। राक्षसों की प्रवृत्ति का अनुसरण देवता भी करने लगे थे। राक्षसों और देवताओं की कार्य पद्धति में अन्तर न होने के कारण ही विष्णु के अवतार को प्रतिष्ठा मिली। पूर्ण मानव शरीर के रूप में परशुराम का अवतार श्रेष्ठ माना जा सकता है। 'वामनावतार' का रूप पूर्ण विकसित मानव का नहीं है वरन् छद्म रूप है। परशुराम के रूप में क्षत्रियों के कुशासन का अन्त महत्त्वपूर्ण कार्य माना जा सकता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के रूप में त्याग, कर्तव्य और मर्यादा की प्रतिष्ठा समाज के लिए अनुकरणीय है। रामावतार में सभी स्वार्थी देवता केवल राम के कार्यों पर पुष्प वर्षा-भर ही करते दिखाई पड़ते हैं। अतः देवता के रूप में आदर्श समाज की व्यावहारिक रूप में स्थापना सम्भव नहीं थी। देवताओं का विशेष परिस्थिति या विशेष वर्ग तक सीमित था।

मानव शरीर की स्थिति साधना पक्ष के अनुकूल है। उसे देवता अपने में समाहित करने में असमर्थ थे। राक्षसों के शरीर की रचना साधना पक्ष के अनुकूल है परन्तु राक्षसों द्वारा शक्ति का दुरुपयोग अधिक हुआ। मानव शरीर में ही दिव्य शक्ति के मानवता के विकास लिए प्रयोग की शक्ति सम्भव है। मानव शरीर की शक्ति की व्यापकता, पवित्रता, सदाचरण, क्रियाशीलता सर्वश्रेष्ठ है। इसी कारण देवताओं को यह मानव शरीर दुर्लभ है। महिमामय, गरिमामय और व्यापक गुणों पर प्रतिष्ठित मानव शरीर देवत्व को प्राप्त कर सकता है।

'बड़े भाग' की व्याख्या धर्म ग्रन्थों में प्राप्त हो जाती है। चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद मानव शरीर प्राप्त होने की बात सामाजिक उपयोगिता मानव शरीर के कर्म के लिए प्रेरित करने की बात है। इससे इतर व्याख्या पण्डितों, पुजारियों आदि की अपनी व्याख्या कही जा सकती है। जिसमें यजमान से धन की आशा की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर जब जीव (मानव शरीर) अविनाशी है तो योनियों में भटकने की बात भ्रम पैदा करने वाली है। यदि जीव मूल रूप में नष्ट नहीं होता तो शरीर बदलने से क्या नुकसान होगा? मानव शरीर कर्मों के द्वारा नित्य बनाया जा सकता है। शरीर रूप में महापुरुषों की कमी अवश्य खलती है परन्तु विश्व के महापुरुषों के कर्म, विचार मानवों के लिए सदैव नए रहते हैं। 'श्रीरामचरितमानस' का निरुत्तर पाठ करने से नए अर्थ प्राप्त होते हैं। यही नवीनता की दृष्टि तुलसीदास को प्रासंगिक बनाए हुए है।

मानव शरीर रूप में ही 'धर्मबुद्धि' प्राप्त होती है। इसी रूप में 'धर्म' सम्पूर्णता को आत्मसात् किया जा सकता है। 'परमबिश्रामु' की स्थिति प्राप्त हो सकती है। कर्मों के द्वारा समरसता की धारा बहाई जा सकती है। मनुष्य सात्विक अनुराग, सात्विक क्रोध, सम्यक् वाक् और सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर सकता है। तुलसीदास और उनके ईष्ट भगवान राम मध्यकालीन समाज जो पराधीन है को कर्म करने की प्रेरणा देते हैं।

पराधीनता के युग में तुलसी के राम केवल भक्ति का दान करते दिखाई पड़ते हैं। यह भक्ति कोई वरदान नहीं है वरन् क्रान्ति है जिसे मध्यकालीन समाज समझ नहीं पाया। विदेशी शासन के साथ-साथ देशी राजाओं का शासन मर्यादित नहीं था। ऐसे विषाक्त समय में प्रभु के भरोसे चमत्कार की उम्मीद करना व्यर्थ था। राम आदर्श राज्य का रूप प्रस्तुत करते हैं परन्तु जब समाज समझौतावादी, भाग्यवादी, सुविधाभोगी हो तो ईश्वर क्या करे? तुलसीदास की भक्ति आत्मचिन्तन करने की प्रक्रिया है। करनी कथनी भेद मिटाने की क्रिया है। मौका परस्ती की भावना को समाप्त करने का जीवन दर्शन है।

उत्तरकाण्ड में तुलसीदास ने कहा

श्रुति सम्मत हरिभक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।

ईश्वर भक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से वैराग्य लेने से सम्बन्धित है। भाग्यवादी भावना का परित्याग, समझौतावादी, सिद्धान्त हीनता, मौकापरस्ती छोड़ना, सुविधाओं का गुलाम न होना ही विवेक है। हमने तुलसी की भक्ति के व्यावहारिक रूप को समझने का प्रयास नहीं किया। इसी कारण पराधीनता के युग में तुलसी के राम केवल 'भक्ति का दान' करते हैं। उस भक्ति के दान से शबरी, बालि आदि व्यक्ति तो सन्तुष्ट हो सकते हैं परन्तु हनुमान नहीं। हनुमान भक्ति प्राप्त करने के बाद भी कर्म करते हैं। यही क्रियाशीलता उन्हें अमरत्व प्रदान करती है। तुलसीदास की दृष्टि इसी कारण हनुमान के चित्रण में अधिक रमी है।

गोस्वामी तुलसीदास ने मानव शरीर को स्वस्थ और लोकोन्मुखी कार्यों के प्रति जागरूक करने पर बल दिया है। आत्मसाध्य, हत्या, दैहिक प्रकोप, दैविक तापों को मानव शरीर के लिए दुःखदाई माना जाता है। आज जहाँ एक ओर मानव शरीर को सुन्दर बनाने के प्रयास किए जा रहे हैं दूसरी ओर मानव शरीर को नष्ट करने के भी प्रयास हो रहे हैं। अतः शरीर के लिए जीना छोड़ना होगा। जीने के लिए शरीर है। जीवन के प्रति अनुराग पैदा करना होगा। यही मानव शरीर की उपयोगिता और सार्थकता मानी जा सकती है।

मिताहार का महत्त्व

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में मिताहार का विशेष महत्त्व है। लोक में प्रसिद्ध कहावत है-“अन्न ही जियावे और अन्न ही मारे।” अन्न द्वारा ही मानव शरीर को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है और मानव शरीर में अन्न की अधिकता 'जहर' (Food Poison) को निर्मित करती है। अन्न की अधिकता होने से मानव शरीर में कब्ज, सुस्ती, दस्त, सिर दर्द और मरणाभास जैसे विकार उत्पन्न होते हैं। इन विकारों पर नियन्त्रण किया जा सकता है। उसका उपाय है मिताहार की जानकारी और उसका पालन। मिताहार किसी साधना या चिकित्सा विशेष का गूढ़ रहस्य नहीं है वरन् दैनिक व्यवहार में अपनाई जाने वाली सावधानी है जिसे मनुष्य ध्यान नहीं देता। स्वाद के वशीभूत होकर मिताहार नहीं करता अतः वह दुःखी होता है।

'मित' का शाब्दिक अर्थ है सन्तुलित अर्थात् नपा-तुला। 'आहार' का अर्थ है भोजन। इस प्रकार पूरा अर्थ होगा-“सात्विक, पौष्टिक आहार सन्तुलित रूप में ग्रहण करना मिताहार कहलाता है। चिकित्सा पद्धतियों के विशेषज्ञों की दृष्टि रोग की जड़ को खत्म करने की होती है, अतः वे मिताहार पर अधिक बल देते हैं। अस्पतालों में रोगी को दिया जाने वाला आहार कुछ इसी प्रकार का होता है। वात, पित्त, और कफ से सम्बन्धित रोग आहार से सम्बद्ध होता है। अतएव आहार पर विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

अधिक या गरिष्ठ अर्थात् भारी आहार लेने पर पेट में भारीपन, तन्द्रा (निद्रा), पेट दर्द और कब्ज आदि की शिकायत अमित आहार को बताता है। अनियमित समय पर लिया गया आहार भी इसी में आता है। अमित आहार से उत्पन्न विकारों से राहत पाने का आसान उपाय है 'लंघन'। अमित आहार के न पचने की दिशा में अगले खाने के समय पर आहार न लेना लंघन कहलाता है। 'लंघन' उपाय द्वारा अमित आहार से उत्पन्न विकारों से राहत मिल सकती है। 'लंघन' मिताहार का सहायक है जिससे पाचन क्रिया नियमित की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मिताहार के महत्त्व को देखकर हिन्दू साधना में व्रत-उपवास का विधान किया गया होगा। व्रत उपवास को लंघन उपाय के रूप में स्वीकार करने से शरीर को आराम मिल सकता है। ड्राईफूड या अन्य गरिष्ठ आहार शरीर के लिए हानिकारक हो सकते हैं इसलिए व्रत-उपवास में 'फलाहार' श्रेयस्कर होता है। 'फलाहार' मिताहार का सहायक माना जा सकता है।

'मिताहार' की कसौटी क्या है? यह विचारणीय प्रश्न है। इसमें आहार की मात्रा के साथ समय का भी निर्धारण होना चाहिए। इसकी जानकारी न होने पर रोगी हो सकता है। मिताहार की कसौटी निम्न प्रकार से प्रस्तुत की जा सकती

1. सर्वप्रथम स्वाद (जीभ) के मोह का त्याग करें।
2. अपनी पाचन शक्ति का स्वयं अनुमान लगाएँ।
3. नाक और गले में बलगम की स्थिति पर विचार करें।
4. शारीरिक स्थिति पर विचार करें। शरीर कमजोर है या बलवान इस स्थिति पर विचार करें।
5. अपनी उम्र का विचार करें।
6. अपने शरीर के रोगों पर विचार करें।
7. खाई जाने वाली वस्तु की उपयोगिता और उसके महत्त्व पर विचार करें।
8. खाए जाने वाले समय पर विचार करें।
9. भूख लगने की सही स्थिति पर विचार करें।

उपर्युक्त नौ बातों पर अच्छी तरह विचार करने के बाद आहार की मात्रा और समय निर्धारित करें। उचित निर्णय लेने से शरीर को स्वस्थ और निरोगी रखा जा सकता है। आहार लेने से पूर्व कुछ सावधानियों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। निम्न सावधानियों को दैनिक व्यवहार में आत्मसात करना चाहिए। आलस्य, इसमें बाधक है। वे सावधानियाँ इस प्रकार हैं

1. इस बात की पूरी जाँच कर लें कि भोजन पूरी तरह पका हुआ है या नहीं। कच्चा या अधपका भोजन अमित आहार के अन्तर्गत आता है।
2. इसका ध्यान रखा जाए कि भोजन बने अधिक समय न हुआ हो। गर्म भोजन श्रेयस्कर कर है।
3. भोजन बासी, दुर्गन्धयुक्त और रसहीन नहीं होना चाहिए। पौष्टिक और ताजा भोजन करना लाभकारी होता है।
4. भोजन मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंगे आदि द्वारा जूठा किया हुआ नहीं होना चाहिए।
5. भोजन तामसी अर्थात् मन्दबुद्धि करने वाला नहीं होना चाहिए अर्थात् भोजन सात्विक होना चाहिए।
6. भोजन करने का निश्चित समय होना चाहिए। असमय भोजन करना भी अमित आहार का अंग है।
7. भोजन परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए। जैसे दूध के साथ मछली का सेवन नहीं करना चाहिए।
8. पुनः भोजन करना ही अमित आहार है। अतः पुनः भोजन करने से बचना चाहिए।
9. भोजन तेज गर्म ग्रहण नहीं करना चाहिए।
10. भोजन तेजी से (वेग से) नहीं लेना चाहिए। चबा-चबा कर भोजन करना ठीक रहता है।
11. भोजन बैठकर करना ही श्रेयस्कर है।
12. भोजन से पूर्व (लगभग 20 मिनट पहले) एक गिलास स्वच्छ जल पीना लाभदायक रहता है।

उपर्युक्त बारह सावधानियाँ मिताहार में सहायक होती हैं। ये ऐसी सावधानियाँ हैं जिनका खुद ही प्रयोग करना पड़ता है। इसके लिए किसी बाहरी चिकित्सक (डॉक्टर) की आवश्यकता नहीं होती। खुद ही चिकित्सक बनकर स्वयं के साथ-साथ परिवार के अन्य सदस्यों के शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है। विद्यार्थियों और रोगियों के लिए 'मिताहार' औषधि का कार्य करता है। आम जनता में 'मिताहार' की जानकारी होना अनिवार्य है। यदि स्वस्थ शरीर के समय ही अपना लिया जाए तो अस्पतालों के द्वारा दिया जाने वाला मिताहार रुचि पूर्ण लगेगा। "जीने के लिए खाना चाहिए, खाने के लिए नहीं जीना चाहिए।" जो खाने के लिए जीते हैं उनका शरीर, मन दोनों रोगी ही रहते हैं। जो जीने के लिए खाते हैं वे प्रसन्नचित्त और निरोगी देखे गए हैं। अतः मिताहार को अपनाना ही श्रेयस्कर है।

कबीर का समाज सुधारक रूप

कबीर महापुरुष, युगद्रष्टा और सधुक्कड़ प्रवृत्ति के कवि थे। उनकी प्रकृति विद्रोह की थी। समाज में कबीर ने जो भी गलत, अनुचित, अमानवतावादी, अर्थहीन और रूढ़िवादी देखा उसका बड़े ही स्पष्ट शब्दों में विरोध किया। तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का विरोध उनकी रचनाओं में देखने को मिलता है। उनकी वाणियों में वे सभी तत्त्व प्राप्त होते हैं जो मनुष्य और समाज को एक बड़े ही सन्तुलित रूप में देखते हैं और उनकी बातें इतनी वजनदार और जानदार हैं कि आज भी समाज सुधारक उन्हें दोहराते चले आ रहे हैं। लगभग 500 वर्ष का समय गुजर गया है लेकिन कबीर की वाणी में जो सामाजिकता देखने को मिलती है आज उसकी उतनी ही आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस अर्थ में कबीरदास की प्रासंगिकता असन्दिग्ध है।

कबीर की रचनाओं को देखकर ऐसा लगता है कि उनको धार्मिक आडम्बरो से चिढ़ थी। वे धार्मिक आडम्बरो और दिखावे को निन्दनीय समझते हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा की जड़ता का बड़े स्पष्ट शब्दों में विरोध किया

पाथर पूजे हरि मिले, तो मैं पूजू पहार।

पूज पुजारी लै चला, दै मूरति मुखछार ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय में धर्म में पूजापाठ सम्बन्धी आडम्बर आज की तरह महज एक वर्ग विशेष या कुछ लोगों के स्वार्थ की पूर्ति का साधन बना हुआ था। मूर्तिपूजा में जड़ता आ गई थी। नवीनता के अभाव में मूर्तिपूजा शोषण करने वालों का साथ दे रही थी। आम जनता मूर्तिपूजा के मकड़जाल में उलझी हुई थी।

कबीर ने अपने समय तक प्रचलित दो प्रमुख धर्मों हिन्दू और मुसलमानों में जो कुछ अनुचित लगा उसका विरोध किया। मुसलमानों के धार्मिक दिखावे और सद्-व्यवहार में जो एक भारी अन्तर है उसपर उन्होंने अच्छी फटकार लगाई।

दिन को रोजा रहत हैं, रात हनत है गाय।

इधर खून उधर बन्दगी, कैसे मिले खुदाय ॥

उस समय के समाज के सामूहिक आचरण में जो कुछ खटका उसका खण्डन किया। इस प्रवृत्ति के कारण उनका विरोधी स्वर ही प्रमुख रहा। उस समय के समाज में यदि बहुत कुरीतियाँ थीं तो कौन-सी व्यवस्था ठीक रहती यह उन्होंने नहीं बताया। गोस्वामी तुलसीदास ने जहाँ एक ओर 'कलियुग वर्णन' में समाज की कुरीतियों का विरोध किया वहीं 'उत्तरकाण्ड' में राम के राज्य के आदर्श रूप को प्रस्तुत किया। दयानन्द सरस्वती ने समाज की जड़ता का विरोध करते हुए 'आर्य समाज' के द्वारा सामाजिक व्यवस्था देने का प्रयास किया। महात्मा बुद्ध ने पण्डितों की जड़ता का विरोध करते हुए बौद्ध संघ के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत की। इसी प्रकार महात्मा गाँधी ने भारतीय समाज की कुरीतियों का विरोध करते हुए 'साबरमती आश्रम' और वर्धा के 'सेवाग्राम' के माध्यम से व्यवस्था प्रस्तुत की।

इन महापुरुषों ने तत्कालीन समाज का विरोध किया परन्तु उस समय की खराब व्यवस्था की जगह अपनी व्यवस्था दी थी कबीर वैसा कार्य नहीं कर पाए। इस प्रकार कबीर को तुलसी, बुद्ध, दयानन्द और महात्मा गाँधी की कोटि का समाज सुधारक नहीं माना जा सकता। उनकी खण्डनात्मक ! प्रवृत्ति ने व्यवस्था प्रस्तुत करने का समय ही नहीं दिया होगा।

कबीर की मण्डनात्मक प्रवृत्ति उनकी आध्यात्मिक चेतना में देखी जा सकती है। सदाचरण, सत्संग, संयम, नियम पालन, सच बोलना, लोक कल्याण की दृष्टि, नाम, जप, प्रभु प्रेम आदि के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना यही जीवमात्र के उद्धार का स्वरूप उन्होंने प्रस्तुत किया। इसके लिए वन जाने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थ रूप में यह सम्भव है। उन्होंने कहा

कुल अभिमान बिचार तजि, खोजौ पद निरबांन

अंकुर बीज नसाइगा, तब मिलै बिदेही थान ॥

कुल अभिमान ही सामाजिक समस्या है। जब तक इसका परित्याग नहीं किया जाएगा समाज में समरसता नहीं आएगी। उस कुल अभिमान को छोड़कर मुक्ति की बात सोचनी चाहिए। उनकी मुक्ति एक प्रकार की समाज सेवा है जिसमें समर्पण का भाव रहता है। यही समर्पण का भाव कबीर की मुक्ति मानी जा सकती है। इस प्रकार के भाव गुरु कृपा से सम्भव है। बिना गुरु के इस प्रकार के भाव नहीं आ सकते। गुरु ही अनन्त को दिखाता है --

सतगुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।

लोचन अनन्त उधारिया, अनन्त दिखावन हार ॥

सच्चे गुरु के सभी कार्य 'अनन्त' से प्रेरित होते हैं। अतः यही 'अनन्त' शब्द की जानकारी सच्चे गुरु से मिल सकती है।

कबीर युग द्रष्टा थे। युग द्रष्टा से अभिप्राय अपने युग के समाज की विचारधाराओं और मान्यताओं के ज्ञान से है। उन्हें अपने समय के समाज का पूर्ण ज्ञान था। अपने समय तक प्रचलित सभी धार्मिक सम्प्रदायों का ज्ञान था। इसी कारण उनकी वाणियों में कृष्ण से सम्बन्धित गिरधारी, गोवर्द्धन, मुरारी, कन्हैया आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। हठयोग की साधना में कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाने की प्रक्रिया की पूरी जानकारी थी। राम से सम्बन्धित नाम का प्रयोग कई बार किया है। जैसे

आई सूति कबीर की पाया राम रतन ॥

विभिन्न साधना पद्धतियों की शब्दावलियों का प्रयोग देखकर कहा जा सकता है कि कबीर युगद्रष्टा थे।

कबीर की दृष्टि आधुनिक थी। आधुनिक से तात्पर्य-प्रचलित व्यवस्था के भीतर क्या कमियाँ हैं? क्या उन्हें दूर करके उसकी जगह और मूल्य स्थापित किए जा सकते हैं?-इस प्रकार का चिन्तन ही अपने आप में आधुनिक कहा जा सकता है। 'लीक पर चलना' और परम्परा की दुर्गन्ध को अपनाए रखने से अपने व्यक्तित्व और सामाजिक व्यक्तित्व में कैसर पैदा करना है। अतः इतिहास के जिस बिन्दु पर सभी सामाजिक मूल्यों में मोड़ स्पष्ट दिखाई पड़ जाते हैं वहीं से आधुनिकता प्रारम्भ होती है। महात्मा बुद्ध, कबीर, दयानन्द सरस्वती और महात्मा गाँधी के समय ऐसे ही मोड़ दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने व्यवस्था की कमियों को पहचाना और उस व्यवस्था का खण्डन किया। इन्हें इतनी सशक्त, जीवन्त और व्यापक दृष्टि प्राप्त थी कि वे जीवन और समाज की दशा मोड़ सकने में समर्थ थे। 'कबीर पंथ' की स्थापना कबीर ने खुद नहीं की थी। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध संघों के माध्यम से परम्परा के विरुद्ध आवाज उठाकर दुःख निरोध के उपाय बताकर व्यक्तिगत और सामाजिक व्यक्तित्वों में सुधार का एक आदर्श प्रस्तुत किया। दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के माध्यम से 'सत्य के अर्थ' (सत्यार्थ प्रकाश) की प्रतिष्ठा की। तुलसीदास ने 'रामराज्य' और महात्मा गाँधी ने साबरमती आश्रम की स्थापना करके समाज को दिशा देने का प्रयास किया। 'कबीर पंथ' की स्थापना कबीर के शिष्यों ने की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर किसी सर्वथा नवीन समाज के निर्माण के प्रति प्रयत्नशील नहीं थे।

उनके द्वारा हिन्दू-मुस्लिम समाज की बुराईयों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऐसे समाज की प्रतिष्ठा करना चाहते थे जो धर्मनिरपेक्ष हो और सहजधर्म पर आधारित हो

आपा पर सम चीन्हिए तब दीसै सरब समान।

इन्हि पर नरहरि भटिए तू छाँड़ि कपट अभिमान ॥

ऐसा समाज जहाँ झगड़े, विवाद तथा विषमताएँ न हों। इसे ही कबीर का सहज धर्म, समरसता और सहज समाज माना जा सकता है। समदृष्टि की प्रतिष्ठा कबीर के समाज की विशेषता मानी जा सकती है।

कबीर ने प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की कुरीतियों का विरोध किया। जाँति-पाँति का विरोध, छुआछूत का विरोध उनके मुख्य विषय थे। वे स्वयं जुलाहे पेशे से सम्बन्धित थे। लगता है ऊँची जाति के लोगों ने उनका अपमान किया होगा। जब राम की कृपा से और सत्संग से वे आदर्श पुरुष बन गए हों तो तब उन्होंने कबीर का अनुसरण किया हो

तू बाम्हन मैं कासी का जोलाहा चीन्हे न मोरि ग्यांना। तौ सब माँगे भूपति राजा मोरे राम धियांनां ॥

उन्होंने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के दुष्परिणामों को अच्छी तरह परखा था। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे

जाँति-पाँति पूछे नहिं कोई।

हरि को भजै सो हरि का होई ॥

प्रभु भक्ति में जाँति-पाँति और छुआछूत का कोई भेदभाव नहीं होता। सांसारिक जीवन में यह भेदभाव निरर्थक है। उन्होंने तथाकथित ब्राह्मणों, पण्डितों, मुल्ले, पादरी आदि धर्माधिकारियों के आचरण को भली-भाँति देखा व परखा था। उन्हें आड़े हाथों लिया। पण्डे पुजारी आचरण भ्रष्ट थे। किसी प्रकार धन कमाना, उस धन का दुरुपयोग करना उनका उद्देश्य था। किसान, मजदूर, मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के लोगों का जीवन अपेक्षाकृत स्वस्थ था। धर्माधिकारी इनका शोषण कर रहे थे। उन्होंने अपनी रामभक्ति अथवा प्रभु भक्ति में इस सामाजिक बुराई को समाप्त करने पर बल दिया

"भाव भगति बिस्वास बिन, कटै न संसै मूल"

भक्ति में भाव और विश्वास होना जरूरी है। इसके बिना संशय (भ्रम) दूर नहीं होगा। जब संशय खत्म होगा तो।

तहाँ पाप पुण्य नहिं छोति।

वहाँ पाप-पुण्य की सीमा रेखा ही समाप्त हो जाएगी। छल, कपट, झूठ, दिखावा, ढोंग, आडम्बर, स्त्रीभोग और कपट सहित माला जपने का विरोध किया

माला फेरत जुग भया, फिरा न मनका फेरि।
करका मनका छाँड़ि दे, मन का मनका फेरि ॥

इसी प्रकार

जोगी गोरख करै। हिन्दू राम नाम उचरै।
मुसलमान कहै एकु खुदाई। कबीर का स्वामी रहा समाई ॥

इसलिए हे मनुष्य

लोकाजांनि न भुलहु भाई।
खालिक खलक खलक महिं खालिक सब घटि रहा समाई ॥

अन्यत्र भी कहा है

हिन्दू कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमान।
आपस में दोउ लड़त मरत हैं मरम न कोउ जाना ॥

इसी तरह अन्य जगह कहा है

जो खुदाय मस्जिद बसे, तो और मुलुक केहि केरा। तीरथ मूरत राम निवासी बाहर केहि का डेरा ॥

स्पष्ट है कि कबीर की दृष्टि में धार्मिक आडम्बर समाज की क्रियाशीलता में बाधक थे। धार्मिक कर्मकाण्डों में जड़ता आ गई थी। समाज में उसकी उपयोगिसमाप्त हो चुकी थी। यह स्थिति आज भी है। देश के एक बड़े खुशहाल राज्य की क्रियाशीलता धार्मिक उन्मादों की लपेट में आकर ठप्प पड़ गई है। हर व्यक्ति अपने को असुरक्षित महसूस कर रहा है। कबीर की वाणियों में धार्मिक कट्टरता और धार्मिक भेदभाव नहीं दिखाई पड़ता। इसका प्रमाण है कि कबीर के मरने के बाद हिन्दू-मुस्लिम दोनों ने अपने ढंग से फूलों से उनका संस्कार किया।

कबीर ने बाह्याचारों का विरोध किया। व्रत, उपवास, पूजा, पाठ, स्नान, माला, कण्ठी, छापा, तिलक, गेरुवा वस्त्र, विभूति लगाना, जटा बढाना, मन्दिर जाना, तीर्थाटन करना आदि हिन्दुओं के बाह्याचार कबीर की दृष्टि में दिखावा, पाखण्ड और ढोंग मात्र था। इसी प्रकार मस्जिद में नमाज पढ़ना, जोर से आवाज देना, रोजा रखना आदि मुसलमानों के बाह्याचार उन्हें खोखले लगते थे।

इस प्रकार कबीर ने बड़े साहस, धैर्य, सूझ-बूझ विवेक और दूरदर्शी दृष्टि के द्वारा तत्कालीन समाज की कुरीतियों पर कुठाराघात किया। परम्परा में जड़ता की जगह नवीन दृष्टि अपनाने पर बल दिया। इन्हीं अर्थों में वे सच्चे समाज सुधारक, युगद्रष्टा और आधुनिक माने जा सकते हैं। उनकी दृष्टि मानवतावादी के साथ-साथ लोककल्याण की भावना से युक्त थी।

प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीयता

'राष्ट्र' शब्द का विशेषण राष्ट्रीय है। भूमि, जनसंख्या, उस जनसंख्या की सरकार और उसकी प्रभुता राष्ट्र कहलाती है। राष्ट्रीय हित के उद्देश्य से प्रेरित वस्तु, भाव, विचार को राष्ट्रीय वस्तु, भाव या विचार कहा जाता है। जैसे-राष्ट्रगान, राष्ट्रीय गीत, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय पक्षी इत्यादि। 'राष्ट्रीय' शब्द में 'ता' प्रत्यय लगाकर राष्ट्रीयता शब्द बना है। राष्ट्रीयता में राष्ट्रीय भावना के साथ कुछ भी होता है। प्रसिद्ध यूरोपियन विद्वान जिमरन ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीयता और सरकार' में माना है- 'राष्ट्रीयता का प्रश्न सामूहिक जीवन सामूहिक विकास और सामूहिक आत्मसम्मान से सम्बद्ध है।' राष्ट्रीयता का प्रश्न तभी उठता है जब किसी कृति में जीवन को सामूहिक रूप में देखने का प्रयास किया गया हो। मानव जाति के वैचारिक और सांस्कृतिक विकास को बताया गया हो। पतनोन्मुखी मानव सभ्यता के पुनरूत्थान को चित्रित किया गया हो। वस्तुतः एक अच्छी राष्ट्रीय कृति में मानवता, विश्वबन्धुत्व, समानता, आत्मसम्मान और सांस्कृतिक विकास आदि तत्व भी होते हैं। किसी राष्ट्रीय कृति में जब तक इस प्रकार की भावना नहीं होगी तब तक वह कृति या भाव 'पृथ्वीराज रासो' की तरह एकपक्षीय होगा। उसका महत्त्व कुछ समय के लिए ही होगा। दीर्घकालीन दृष्टि से उसका महत्त्व नहीं होगा। एक महान् व्यक्ति के लिए राष्ट्रीय होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय अर्थात् प्रकीर्ण दृष्टिवान होना आवश्यक है। महात्मा तुलसीदास, कबीरदास, हजरत मुहम्मद, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द गाँधी जी आदि जितने भी महापुरुषों की विचारधाराएँ थीं वे राष्ट्रीयता को समेटे थीं। उनकी चिन्ता मानव जाति के पतन की थी। जीसस ने भी कलह, वैर और द्वेष आदि को दूर करने की बात कही थी। प्रसाद के नाटकों को इसी दृष्टि से समझने का प्रयास किया गया है।

प्रसाद के सभी नाटकों की आत्मा भारतीय है। रीति-रिवाज, वेशभूषा और विचार विनिमय में भारतीय परिवेश छाया हुआ है। घटनाओं का स्रोत भारतीय इतिहास और पुराण हैं। इस दृष्टि से प्रसाद के सभी नाटकों को राष्ट्रीय कृतियों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। राष्ट्रीयता की पहचान करने के लिए उनके सम्पूर्ण नाटक साहित्य पर विचार करना आवश्यक है। उनके चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त नाटक प्रौढ़ कृतियाँ मानी जाती हैं। अतः उनका उल्लेख अन्त में किया गया है।

राष्ट्रीयता का प्रश्न इन्हीं कृतियों के सन्दर्भ में उठाया जाता है क्योंकि नाटकीय परिस्थितियों के साथ संघर्ष और संभावनाएँ इनमें अधिक हैं।

प्रसाद की नाट्य कृतियों को इस प्रकार रखा जा सकता है। सज्जन, प्रायश्चित्त, कल्याणी परिणय, करुणालय, राज्यश्री, और विशाख प्रारम्भिक कृतियाँ हैं। इनमें कुछ कृतियों में नारी विषयक दृष्टिकोण मिलता है। इन नाटकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है। तत्कालीन समाज में प्रभाव और पाश्चात्य भारतीय नाट्यशैली का मिला-जुला रूप इन नाटकों में दिखाई पड़ता है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' की कथावस्तु पौराणिक है। इसमें आर्य नाग संघर्ष परन्तु वह संघर्ष संभावनाओं को अधिक ध्वनित नहीं करता है। इस पौराणिक कथा से सम्बद्ध नाटक में स्कन्दगुप्त नाटक की तरह बिखराव है। कथावस्तु संक्षिप्त, सुगठित और नाटकीय है। इस नाटक का सम्पूर्ण परिवेश प्राचीन भारतीय युग का है। आर्य नाग संघर्ष को प्रसाद ने नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है, इसमें सम्पूर्ण भारतीय समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था का चित्रण मिलता है।

'अजातशत्रु' प्रसाद का चर्चित नाटक है। इसकी घटना का स्रोत प्राचीन भारतीय इतिहास है। इसमें अजातशत्रु की इतिहास सम्मत कथा को कहीं भी विकृत नहीं किया गया है इसमें बौद्ध अहिंसा और करुणा का भाव मुख्य रूप से दिखाई पड़ता है। इसकी मूल प्रेरणा विश्व मैत्री की भावना है। इस नाटक के कुछ अंश प्रस्तुत हैं

शान्ति मिले, विश्व शीतल हो।

भूमण्डल में स्नेह का, करुणा का, क्षमा का शासन फैलाओ

विश्व के कल्याण में अग्रसर हो।

'अजातशत्रु' की उपर्युक्त पंक्तियों में विश्व-कल्याण की भावना निहित है। युद्ध की विभीषिका समाप्त करने पर बल दिया गया है। इसमें विश्व को एक करने की बात कही गई है। अजातशत्रु नाटक भारतीय होने के अतिरिक्त विश्व-कल्याण की बात कहता है। इस दृष्टि से इसे राष्ट्रीय कृति के साथ-साथ विश्व कृति भी माना जा सकता है। इस दृष्टि से प्रसाद राष्ट्रवादी के साथ विश्ववादी भी हैं।

'कामना' मानव मन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। 'एक घुट' में प्रकृति के विभिन्न रूपों वनलता, मुकुल, रसाल, कुंज का मानवीकरण किया गया प्रतीत होता है। कुछ ऐसे पात्र चन्दुला, झाड़ूवाला आदि भी हैं जिनका स्वतन्त्र मानवीय व्यक्तित्व प्रातिभासित होता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद का आग्रह इतिहास के गर्भ में छिपे जीवन्त आदर्श को प्रकट करने का है। इस नाटक में प्रसाद ने इतिहास के सत्यों के साथ जीवन के शाश्वत सत्यों का भी उद्घाटन किया है।

नाटक में उनकी नारी समस्या उभरकर आती है। इसमें लेखक के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण, उसके विवाह; मोक्ष और स्वतन्त्र अस्तित्व सम्बन्धी परम्परा मुक्त चिन्तन की प्रधानता है। 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद के नाटकों की अन्य नारियों की अपेक्षा आधुनिक नारी के अधिक निकट ठहरती है ध्रुवस्वामिनी न श्रद्धा है न कामना। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का भी परिवेश भारतीय है। इसकी कथा का स्रोत प्राचीन भारतीय इतिहास है। इसमें रामगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की कथा है। इस नाटक में भारतीय समाज में नारी की स्थिति और उसके नए आयामों को प्रकट करने का प्रयास किया गया है। इसमें नारी का सही स्थान समाज में इंगित करने का जो प्रयास प्रसाद ने किया है उसमें नारी कल्याण की भावना है जिसमें विश्व कल्याण निहित है।

प्रसाद की प्रौढ़ नाट्य कृति 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य राष्ट्र नायक, चन्द्रगुप्त राष्ट्रोद्धारक, सिंहरण राष्ट्र सैनिक, अलका राष्ट्र सेविका और आम्भीक राष्ट्रद्रोही के रूप में प्रतीत होते हैं। द्वितीय यवन आक्रमण के समय अलका आधुनिक जननेत्री के रूप में दिखाई पड़ती है। वह राष्ट्र नेता के व्यक्तित्व को आत्मसात करके जनता को राष्ट्रोद्धार के लिए युद्ध करने के लिए प्रेरित करती है। मातृभूमि के सपूतों को सम्बोधित करके अलका द्वारा गाया गीत नाटककार का अपने नौजवानों को देश की बलिवेदी पर प्राण न्यौछावर करने के लिए उद्धोधन गीत प्रतीत होता है। इसी प्रकार प्रान्तीयता की संकुचित विचारधारा जो हमारे समाज में कैसर की तरह व्याप्त है उसका निराकरण नाटक के पात्र चाणक्य के शब्दों में देखा जा सकता है

"तुम मालव हो और यह मागध। यही तुम्हारे मान का अवसान है न?...मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।" वर्तमान युग में इसी की आवश्यकता है। प्रान्तीयता की भावना के लिए ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के लिए अहितकर सिद्ध हो रही है। श्वेत अश्वेत, यहूदी फिलीस्तीनी, बंगाली, महाराष्ट्री आदि का भेदभाव भुलाकर सम्पूर्ण मानव जाति की मान मर्यादा का ध्यान न रखने पर भारत का ही नहीं सम्पूर्ण विश्व का विकास नहीं हो सकता। जब सम्पूर्ण विश्व में मानव के कल्याण की भावना प्रबल हो जाती है तब छोटे-मोटे युद्धों और परमाणु हथियारों के होड़ का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसके लिए आवश्यकता है सामूहिक जीवन दृष्टि अपनाने की। सामूहिक विकास करके मानव के सम्मान को समझने से विश्व की समस्याओं को नियन्त्रित किया जा सकता है। कम-से-कम देश में अलग-अलग नए प्रान्तों की मांग करने वालों को प्रसाद के 'तुम मालव हो और यह मागध' को चेतावनी को ध्यान में रखना चाहिए अन्यथा जो स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता आज है वह संकट में पड़ सकती है। प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' में ही एक विदेशी पात्र कॉर्नेलिया के मुख से भारत की वन्दना जिस सटीक ढंग से कराई है वह राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति और स्थापना की दृष्टि से सराहनीय है।

"अरुण यह मधुमय देश हमारा। जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।"

प्रसाद ने अपने नाटकों की नाट्यवस्तु भारतीय इतिहास से ली है। भारतीय इतिहास को कहीं भी प्रसाद ने विकृत नहीं किया है। उस यथार्थ इतिहास में जिस स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का प्रसाद ने उपयोग किया है उसकी अपनी सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक विशेषता थी। वह विशेषता थी अतीत के गौरव और शौर्य को साहित्य में प्रश्रय देना। वस्तुतः उन्होंने इतिहास के उन जीवन्त अंशों को चुना है जो विश्व के शाश्वत दृश्य बन्ध में अतीत में भी महत्त्वपूर्ण थे और आज भी हैं। जैसे 'स्कन्दगुप्त' की राष्ट्रीय चेतना नाटक की विषयवस्तु को गरिमा प्रदान करती है। इसी कारण 'स्कन्दगुप्त' में समसामयिक स्वतन्त्रता, संघर्ष, जातीय और राष्ट्रीय एकता तथा शौर्य अथवा आत्मबलिदान की भावना का इतिहास के साथ सहज

सामंजस्य स्थापित कर सके। वर्तमान और अतीत के बीच सम्बन्ध सूत्र की पहचान होने के कारण इस नाटक की नाट्यवस्तु कुछ स्तरों पर ऐतिहासिक होने के साथ-साथ आधुनिक या समसामयिक प्रतीत होती है।

भारत में इतिहास लिखने की प्रवृत्ति मुख्य रूप से अंग्रेजों के सुदृढ़ शासन के बाद हुई। भारत के प्राचीन इतिहास को भारतीय जनता के समक्ष प्रस्तुत करने में अंग्रेजों ने 'भेद डालो शासन करो' नीति का अनुसरण किया। पाश्चात्य इतिहास वेत्ताओं ने चन्द्रगुप्त को नाइन की जारज सन्तान कहा। प्रसाद जी का उद्देश्य पाश्चात्य इतिहास वेत्ताओं के द्वारा दी गई मान्यताओं का अध्ययन और विश्लेषण करना था। उन मान्यताओं का अध्ययन कर 'वृषभ' जो चन्द्रगुप्त के लिए कहा जाता है। उसकी भारतीय परिप्रेक्ष में व्याख्या की। इस प्रकार की अन्य धारणाओं का अध्ययन और विश्लेषण उन्होंने अपने नाटकों की प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है। इन सबका उद्देश्य है प्राचीन भारतीय इतिहास में लगभग जो अप्रकाशित अंश माने जा सकते हैं, उनका ठीक प्रकार और युगानुरूप उद्घाटन। इस अध्ययन विश्लेषण द्वारा भी प्रसाद ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीयता की अभिवृद्धि की है। वस्तुतः प्रसाद के नाटकों में राष्ट्रीयता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इसी कारण से उनकी राष्ट्रीयता का अध्ययन और मूल्यांकन किया जाता है।

माखनलाल चतुर्वेदी के साहित्य में राष्ट्रीय स्वर

राष्ट्रीय स्वर से अभिप्राय के विषय में पं. माखनलाल चतुर्वेदी ने स्वयं लिखा है कि "कविता में केवल खून, फाँसी, हथकड़ी तथा बेड़ियों की चर्चा से उस कविता को राष्ट्रीय कविता नहीं माना जा सकता है। राष्ट्र का काव्य, वाणी और स्वर आदि प्रत्येक चीज पवित्र है, गौरव की वस्तु है।" राष्ट्र को चतुर्वेदी जी महान मानते हैं। राष्ट्रीय स्वर उसे कहा जाना चाहिए जिसमें भूतकाल से लेकर भविष्य तक की नाप हो। इसे ही उन्होंने राष्ट्रव्यापी कहा है। "राष्ट्रीय कविता घुघरू बाँधकर मनोरंजन ही नहीं करती या फिर मधुर आलापों से माधव का गायन ही नहीं करती वरन् वह युद्ध के प्रभात काल में लंकाकांड का भीषण रूप भी धारण कर लेती है और सैनिकों को बलिदान पर आमन्त्रित भी करती है।" इस परिभाषा में उन्होंने राष्ट्रीय स्वर पर अपने विचार रखे हैं। उनके काव्य में राष्ट्रीय स्वर के कई रूप दिखाई पड़ते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए उनके तीन रूपों के राष्ट्रीय स्वर की पहचान करने का प्रयास किया गया है।

उनके साहित्य में राष्ट्रीय स्वर का पहला रूप 'हिमकिरीटिनी' में प्राप्त होता है। इसमें स्वराज्य और जनता के प्रति समर्पित (जवाबदेह) शासन व्यवस्था की कामना की गई है।

प्रथम भारत है हृदय दुलारा देश।

मेरे मरने जीने का धन प्यारा पूज्य हमारा देश।

फिर शासन अपनों ही का हो, अपने लिए किया जावे।

हृदय बढ़ाकर प्राण बढ़ाकर उसे अवश्य लिया जावे।

इसके बाद विदेशी शासन हो चाहे, जगदीश्वर का।

वह स्वराज्य कहला न सकेगा, हो अपना अपने घर का।

इस कविता में सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना पर जोर दिया गया है। अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र की स्थापना पर जोर दिया गया है। अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र शासन का लक्षण दिया--"जनता का, जनता के द्वारा और जनता के लिए समर्पित व्यवस्था।" इस कविता में यही कहा गया है कि वह शासन व्यवस्था अपनाये योग्य है जो- "फिर शासन अपनों ही का हो अपने लिए किया जावे।

"कवि लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था का पक्षधर है। स्वराज्य का सही अर्थ ही यही है। यदि शासन व्यवस्था में जनता की भागीदारी नहीं है तो ईश्वर प्रदत्त (सुविधा सम्पन्न) शासन व्यवस्था के समान रहेगा वह विदेशी ही। दूसरे (विदेशी) की मदद से स्थापित शासन व्यवस्था में तन्त्र (सरकार) जनता का शोषण ही करती है। जनता के प्रति जवाबदेही उसमें नहीं होती। इसीलिए जनता के प्रति समर्पित व्यवस्था उत्तम होती है। इसी व्यवस्था में सामूहिक व्यक्तित्व के विकास की सम्भावना अधिक होती है। जनता सरकार से सीधे बात कर सके। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता हो। ऐसी ही शासन व्यवस्था माखनलाल चतुर्वेदी करना चाहते हैं। वे ऐसी शासन व्यवस्था के पक्षधर नहीं हैं जो समाज निरपेक्ष हो। धर्म, जाति, वर्ण, तानाशाही (सैनिक) प्रवृत्ति पर आधारित व्यवस्था जनता के लिए लाभकारी नहीं रहती। समाज सापेक्ष शासन व्यवस्था जिसमें हमारी भागीदारी हो हृदय और प्राण बढ़ाकर अर्थात् तन और मन से स्वीकार करने योग्य हो। ऐसी व्यवस्था होने पर देश दुलारा होता है, आत्मीयता आती है। विदेशी शासन चाहे स्वर्ग के सुखों को उपस्थित कर दे जनता रहेगी पराधीन ही। पराधीन रहने पर जनता भौतिक दृष्टि से चाहे कितनी भी सम्पन्न हो जाए शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस में कहा है-"पराधीन सपनेहुँ सुख नहीं।" स्वराज्य की अपनी उपयोगिता है। उसी को प्राप्त करने के लिए जनता प्रयत्न करती है। स्वराज्य के लिए जीना और मरना अमूल्य निधि के समान है। वे उस स्वराज्य को स्वीकार नहीं करते जो अपने घर, कुटुम्ब, कुछ वर्ग तक सीमित हो। स्वराज्य वही श्रेष्ठ है जिसमें मानव का आत्मसम्मान सुरक्षित रह सके। सामूहिक विकास की सम्भावनाएँ हों। संकीर्ण, तुच्छ, केवल अपने सुख तक सीमित, स्वार्थी लोगों से युक्त, अराजक और हिंसा आधारित व्यवस्था ठीक नहीं रहती। ऐसी व्यवस्था में लोककल्याण, मानवता, प्रेम, विश्वबन्धुत्व की बात करना हास्यास्पद लगता है। वे ऐसे देश की कामना करते हैं जिसके निवासी उच्च नैतिक गुणों से युक्त हों। जिनमें देश के प्रति सम्मान और आदर का भाव हो। देश के लिए किसी भी प्रकार का त्याग करने की भावना हो। अधिकार आश्रित व्यवस्था में कर्तव्यबोध प्रमुख होना चाहिए। यदि कर्तव्य आधारित भावना नहीं होगी उस देश में महान लोगों की कल्पना नहीं की जा सकती। वह देश महान नहीं बन सकता। "प्रथम भारत है हृदय दुलारा देश" का सही अर्थ यही है कि देश हित सर्वोपरि हो। राष्ट्रीयता की पहचान भारतवासी होने में है। पंजाबी, मराठी, गुजराती और बिहारी आदि 'भारतवासी' के भिन्न रूप माने जा सकते हैं परन्तु 'भारतवासी' प्रथम

पहचान है। हमें भारतवासी के रूप में अपने को प्रतिष्ठित करना है। हमारी सम्प्रभुता का आधार यही है। ऐसी कामना कवि ने उपर्युक्त कविता में की है।

राष्ट्रीय स्वर का दूसरा रूप उनकी 'युगपुरुष' नामक कविता में दिखाई पड़ता है। इसमें भारत की प्रत्येक वस्तु गौरव का प्रतीक है परन्तु समाज की संकीर्ण सोच के लिए कवि का हृदय क्षुब्ध है। क्षोभ युक्त राष्ट्रीयता का स्वर उनका दूसरा रूप

हो मुकुट हिमालय पहनाता, सागर जिसके पद धुलवाता।

यह बँधा बेड़ियों में मस्जिद, मन्दिर, गुरुद्वारा मेरा ॥

प्राकृतिक संसाधनों की दृष्टि से हमारी हर वस्तु गौरव करने वाली है परन्तु धर्म की संकीर्णता, जड़ता उन्हें परेशान कर रही थी। हिन्दू-मुस्लिम, हिन्दू-सिक्ख आदि साम्प्रदायिक दंगों के कारण भारत का विकास नहीं हो पा रहा है। हम विभिन्न संकीर्णताओं तथा प्रान्तीयता की बेड़ी में जकड़े हुए हैं। हमारा देश ऐसा सुरक्षित क्षेत्र है जहाँ हिमालय मुकुट के समान सुशोभित ही नहीं है वरन् रक्षा भी कर रहा है। दक्षिण में सागर पैर धोने का कार्य कर रहा है अर्थात् सागर प्रहरी की भूमिका में है। ऐसा युग पुरुष रूपी हमारा देश अपनी ही बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। इन बेड़ियों को यहीं के निवासियों ने दिया है। हमारा देश भारत महान परम्पराओं वाला है। उदारता, सात्विकता, कर्तव्य परायणता, नैतिकता, वसुधैव कुटुम्बकम्, आस्तिक भावना युक्त और अखिल भारतीय स्तर पर एकत्व की भावना से युक्त रहा है। ऐसा महान देश साम्प्रदायिकता की बेड़ियों के कारण पतन की ओर जा रहा है। अन्ध धार्मिक कट्टरता, धार्मिक असहिष्णुता घर करती जा रही है। नैतिकता, इन्सानियत, प्रेम भाईचारा खत्म होता जा रहा है। ऐसी विकट समस्या से कवि का हृदय क्षुब्ध है। स्वर के तीसरे रूप।

'पुष्प की अभिलाषा' कविता में चतुर्वेदी जी के राष्ट्रीय को देखा जा सकता है। इसमें पुष्प की अभिलाषा को राष्ट्रीयता के साँचे में पिरोकर प्रस्तुत किया गया है। देश की छोटी वस्तु 'पुष्प' के माध्यम से कर्तव्य बोध को प्रस्तुत किया है

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक। मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

पुष्प की इच्छा है उसे राष्ट्र पुत्र के रूप में पहचान मिले। देवताओं पर अर्पित होने, सुन्दरी के सौन्दर्य बढ़ाने से अच्छा है वीर सैनिकों द्वारा कुचल दिया जाऊँ। ऐसा समर्पण ही कवि निवासियों में देखना चाहता है। छोटे से छोटा त्याग भी मनुष्य को महान बनाता है। यदि पुष्प बलिदान करके अमर होना चाहता है तो हम क्यों नहीं? यही इस कविता का मूल प्रश्न माना जा सकता है।

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी की अन्य रचनाओं 'एक भारतीय आत्मा', 'बिजुरी काजल आँज रही', 'बूढ़ों की क्या बात' और 'युगों की तरुणाई के दिन आए हैं' को राष्ट्रीयता के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। यहाँ उनकी तीन कविताओं के माध्यम से राष्ट्रीय स्वरों की शैली को समझने का प्रयास किया गया है। 'युग पुरुष' नामक कविता में राष्ट्रीय स्वरों की प्रासंगिता पर प्रश्न उठाया गया है। यह हमारा दायित्व है उसे सुरक्षित रख सकें। नहीं तो पराधीनता पुनः हमारी नियति हो जाएगी।

भारतीय समाज और प्रेमचन्द

प्रेमचन्द का जीवन दर्शन भारतीय मानस से प्रभावित है। भारतीय समाज का सही, सजीव चित्रण उनके साहित्य में प्राप्त होता है। इसे कई कोणों से देखा जा सकता है। भारतीय दर्शन के सत्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह आदि तत्त्व उनके जीवन की धुरी दिखाई पड़ती है। आर्य समाज के प्रभाव से नारी शिक्षा, विधवा विवाह आदि। तत्त्वों को पाया जा सकता है। सामाजिक संवेदनाओं की सीधी और वास्तविक अभिव्यक्ति अन्य पक्ष हैं। साहित्यकार निराशावादी नहीं प्रगतिशील होता है इसी कारण आशावादिता मानवता, त्याग, प्रेम, बलिदान आदि प्रेमचन्द के विविध पक्ष हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ऐसे कालजयी साहित्यकार हैं जिनमें भारतीय मानस प्रतिबिम्बित हुआ है। वे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास 'विनयपत्रिका' राजाराम के दरबार में भेजते हैं, जिसमें तुलसी का ही विनय नहीं है वरन् कलियुग के त्रस्त प्राणियों की अभिव्यक्ति है। वहाँ तुलसीदास जनता के सच्चे प्रतिनिधि दिखाई पड़ते हैं जो राजाराम के पास भारतीय जनता के दुख, भय, आकांक्षा और अपेक्षाओं को व्यक्त करते हैं। ठीक उसी प्रकार प्रेमचन्द भारतीय समाज के दलित, कृषक, नारी आदि न जाने कितने लोगों के दुख, भय और आकांक्षा को अपने साहित्य के माध्यम से व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं। प्रेमचन्द के साहित्य का मूल स्रोत और पर्यावसान भारतीय समाज ही है।

कफन, गोदान, बड़े घर की बेटी, निर्मला, रंगभूमि, कर्मभूमि, शतरंज के खिलाड़ी, दो बैलों की कथा आदि न जाने कितनी ही कहानियाँ और उपन्यास तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' के समान दैन्य, दुखी, त्रस्त, असहाय लोगों की सच्ची अभिव्यक्ति करती है। प्रेमचन्द इसकी अभिव्यक्ति राजा के दरबार में नहीं करते वरन् भारतीय पाठक के सामने करते हैं। इसी कारण उन्होंने तुलसीदास की तरह हनुमान या सीता के माध्यम की आवश्यकता महसूस नहीं की। क्योंकि माध्यमों का प्रयोग करने से अनुभूति की सच्चाई विकृत होने की सम्भावना थी। अतः उन्होंने अनुभूति की सच्चाई को सजीवता के साथ अभिव्यक्ति दी है। 7

प्रेमचन्द ने सामाजिक असमानता, विसंगतियों और चिन्तन पद्धति की सीधी और बिना लाग लपेट के अभिव्यक्ति दी है। प्रेमचन्द का होरी भारतीय समाज के शोषित कृषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। ऋण प्रस्तता, निरक्षरता, धर्मभीरुता, अन्धविश्वास, निर्धनता और गाय की लालसा आदि की प्रवृत्तियों के वर्णन भारतीय मानस से सम्बन्धित दिखाई पड़ते हैं। इसी प्रकार 'रंगभूमि' का सूरदास गाँधीवादी दर्शन को आत्मसात् किए हुए है। सत्याग्रह और दृश्य परिवर्तन उसका मूलमन्त्र है। उसकी पीड़ा, दुख, विवशता और मृत्यु भारतीय समाज की चिन्तन क्रियाशीलता को प्रस्तुत करती है। 'निर्मला' में अनमेल विवाह के फलस्वरूप पनपने वाली समस्याओं कुंठाओं, शंकाओं और विवशताओं को प्रस्तुत करती है जिसका पर्यावसान मृत्यु में होता है। होरी, सूरदास और निर्मला की परिणति मृत्यु में होना भारतीय समाज की विवशता, व्यवस्था, खोखलेपन और चिन्तन को प्रस्तुत करता है। उदास त्रासदी की ऐसी विलक्षण अभिव्यक्ति का प्रस्तुतीकरण कदाचित् हिन्दी के अन्य किसी साहित्यकार के साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला रूप उपन्यासकार का है जिसमें 'प्रेमा', 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'निर्मला', 'गबन', 'कायाकल्प', 'प्रतिज्ञा' और 'गोदान' जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक कृतियाँ हैं। इन सभी कृतियों में भारतीय समाज की विभिन्न चुनौतियों को प्रस्तुत किया गया है। वे चुनौतियाँ विदेशी सत्ता के प्रति भी हो सकती हैं सामाजिक असमानता, धर्मभीरुता या फिर समाज में फैला अन्धविश्वास के प्रति हो सकती हैं। इसमें भारतीय समाज के ठेकेदारों के प्रति चुनौती दिखाई पड़ती है। प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन का दूसरा रूप कहानीकार का है। इस रूप में उनका साहित्यिक जीवन विविधताओं से भरा पड़ा है। राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक आदि कई क्षेत्रों से सम्बन्धित कहानियाँ प्राप्त होती हैं इन सभी कहानियों में भारतीय शहरी समाज को ही नहीं वरन् ग्रामीण समाज को भी स्थान मिला है। रानी सारन्धा आदि कहानियों में राष्ट्रीय भावधारा भी दिखाई पड़ती है। 'सप्त सरोज', 'नवविधान', 'प्रेम पूर्णिमा', 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोगा', 'प्रेम पचीसी', 'प्रेमप्रसून', 'प्रेम विनोद', 'प्रेम तीर्थ' आदि कहानियों में समाज के विविध पक्षों को देखा जा सकता है। 1

प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन का तीसरा रूप समीक्षक और निबन्धकार का है। समीक्षक के रूप में उनकी ऊँची परख और समझ को देखा जा सकता है। अपने निबन्धों में देशीय समस्याओं का चित्रण करते हुए भारतीय समाज की चुनौतियों को सामने रखा है। समस्याओं और चुनौतियों से युक्त भारतीय समाज में कौन-सा रूप स्थापित किया जाए जो सर्वग्राह्य हो इसका स्पष्ट संकेत प्रेमचन्द ने नहीं किया है। जिस प्रकार तुलसीदास ने

मानस में रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया है उस प्रकार का कार्य प्रेमचन्द अपने साहित्य में नहीं कर पाए। तुलसीदास का आदर्श था रामराज्य की प्रतिष्ठा। प्रेमचन्द के सामने सम्भवतः कोई आदर्श था तो 'बड़े घर की बेटी' या फिर दो बैलों की कथा' में देखा जा सकता है। परन्तु वे तुलसीदास वे की तरह आदर्शोन्मुखी समाज का आदर्श प्रस्तुत नहीं कर पाए। फिर भी प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में भारतीय समाज समेटा है इसमें सन्देह नहीं है।

तुलसीदास ने उत्तरकांड में 'कहहिं सुनहि अनुमोदन करहीं-में सामूहिक आन्दोलन को महत्व दिया वहीं प्रेमचन्द ने सामूहिक आन्दोलन को सम्भवतः उपयुक्त नहीं समझा। सामाजिक समस्याओं के निवारण के लिए सामूहिक आन्दोलन को उस रूप में स्वीकार नहीं किया है जितना विदेशी सत्ता के विरुद्ध 'कर्मभूमि' या फिर 'रंगभूमि' में। होरी, निर्मला कहीं भी सामूहिक आन्दोलन करते नहीं दिखाई पड़ते और न ही किसी सामाजिक संस्था को उनके पक्ष में खड़ा दिखाया गया है। प्रेमचन्द सम्भवतः इस प्रकार के कार्य को उपयुक्त नहीं समझते थे। इससे समाज के बिखराव की सम्भावना अधिक थी। वैयक्तिक समस्याओं, चिन्ताओं को व्यक्तिगत स्तर पर ही हल करना उन्हें श्रेयस्कर लगा। इसी कारण 'सद्गति', 'बड़े घर की बेटी' आदि कहानियों में त्याग, कर्तव्यनिष्ठा आदि तत्वों को स्वीकार किया। ये तत्व व्यक्तिगत स्तर पर ही प्रभावशाली हो सकते हैं सामूहिक स्तर पर नहीं। सामूहिक स्तर पर उनका दुरुपयोग सम्भव था और तमाशे की वस्तु बन सकती थी। इसी कारण ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द ने सामाजिक आन्दोलनों को प्रतिष्ठा नहीं दी।

निर्मला में नारी विवशता और उदास त्रासदी की पुनरावृत्ति न हो इसके लिए व्यक्तिगत चिन्तन की आवश्यकता है। नारी शिक्षा, रूढ़ि का विरोध, संकीर्णता का त्याग, पूर्वाग्रहों की समाप्ति आदि के लिए दृष्टिकोण में परिवर्तन अनिवार्य है। यह परिवर्तन एकाएक नहीं होगा। यह परिवर्तन चिन्तन के धरातल पर सोच की दिशा बदलने से होगा। यह तेजी से हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। समाज के ठेकेदारों से उम्मीद करना व्यर्थ है। इसी कारण प्रेमचन्द ने सामूहिक आन्दोलनों को उचित नहीं समझा। यहाँ प्रेमचन्द तुलसीदास से भी आगे दिखाई पड़ते हैं। तुलसीदास का रामराज्य उन्हें पूर्वाग्रह ग्रसित दिखाई पड़ा होगा इसलिए उन्होंने सामाजिक आदर्श प्रस्तुत नहीं किया। परन्तु रूढ़ि का विरोध, संकीर्णता का त्याग, पूर्वाग्रहों से मुक्ति प्रेमचन्द के साहित्य का मूल आधार माना जा सकता है।

दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता

काव्य में राष्ट्रीयता का अर्थ जीवन को सामूहिक रूप से देखने से है। मानव जाति के वैचारिक और सांस्कृतिक विकास को प्रस्तुत करने से है। पतनोन्मुखी मानव सभ्यता के पुनरुत्थान को चित्रित करने से है। अतः मानव जाति की चिन्ता से प्रेरित साहित्य को राष्ट्रीय माना जा सकता है और उसमें मानवता, विश्वबन्धुत्व, समानता और सांस्कृतिक विकास आदि तत्त्वों को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार के काव्य की दृष्टि एक राष्ट्र की सीमाओं तक सीमित नहीं रहती। उसकी दृष्टि प्रकीर्ण अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय होगी। जो कृति उपर्युक्त विचारों को महत्त्व नहीं देती उसका दीर्घकालीन दृष्टि से महत्त्व नहीं रहता। महात्मा बुद्ध, तुलसीदास, कबीरदास, जीसस, हज़रत मुहम्मद, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, गाँधी, तिलक इत्यादि जितने भी महापुरुष विश्व में हुए उनकी वाणियों में मानव जाति के पुरुत्थान की बात कही गई है। उन सभी की चिन्ता मानव मात्र के पतन की है। इसी कारण रामधारी सिंह दिनकर के काव्य में जहाँ कहीं भी राष्ट्रीयता है वहाँ विश्व-कल्याण और लोक मंगल की भावना है। इसका कारण यह है कि गाँधी, तिलक और रसेल आदि का प्रभाव उन पर रहा।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, अंचल, भगवती चरण वर्मा, गोपाल सिंह नेपाली, नरेन्द्र, हरिवंशराय बच्चन इत्यादि राष्ट्रीय काव्य धारा के कवि हैं। इन्होंने राष्ट्रीय भावना का दिव्य रूप में विकास किया। प्रसाद और निराला आदि की राष्ट्रीयता उच्च आदर्श को प्रस्तुत करती है। इन्हीं राष्ट्रीय काव्य धारा के कवियों के बीच रामधारी सिंह दिनकर का स्थान है जिन्हें हिन्दी का राष्ट्रकवि होने का सौभाग्य मिला है। इनका जन्म बिहार प्रान्त के मुंगेर जनपद के सिमरिया गाँव में सन् 1908 ई. में और मृत्यु 1947 ई. में हुई उन्होंने छायावादोत्तर युग में कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रगतिवाद से लेकर नई कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता इन तीनों ही युगों में उन्होंने तीन प्रकार की राष्ट्र भावधारा की कविताएँ लिखीं। पहले प्रकार की राष्ट्रीय भावधारा की कविताओं में उनका देशप्रेम प्रमुख है। इन रचनाओं में देश-प्रेम के साथ तीव्र तत्कालीन प्रेरणा का उचित समन्वय है।

दूसरे प्रकार की राष्ट्रीय भावधारा की रचनाओं में देश-प्रेम को अतीत के जीवन मूल्यों के प्रति आस्था के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन आ गया है। तीसरे प्रकार की राष्ट्र भावधारा की रचनाओं में देश प्रेम उतना स्थाई नहीं है। जितनी तत्कालीन प्रेरणा। इन तीनों ही दृष्टियों से दिनकर की रचनाओं को समझने का प्रयास किया गया है।

पहले प्रकार की राष्ट्र भावधारा के उदाहरण में उनकी 'नील कुसुम' को प्रस्तुत किया जा सकता है। जिसमें 'भारत' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। भारत क्या है इसे ही समझने का प्रयास किया गया है

भारत एक स्वप्न भू को ऊपर ले जाने वाला। भारत एक विचार स्वर्ग को भू पर लाने वाला। भारत एक भाव जिसको पाकर मनुष्य जगता है। भारत जलज जिस पर जल का दाग न लगता है। भारत है संज्ञा विराग की उज्वल आत्म उदय की। भारत है आत्मा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।

राष्ट्रकवि दिनकर की दृष्टि में 'भारत' एक ऐसा सुनहरा भविष्य है जिसको प्राप्त करने के लिए भारतवासी वर्तमान से संघर्ष करते हैं। सम्पूर्ण मानव जाति के उत्थान की कामना कवि ने की है। यह उत्थान है अपनी आत्मा (नैतिकता) का। भारत एक 'विचार' है जो आदर्शों को व्यावहारिक रूप में अपनाता है। सम्पूर्ण मानव जाति में प्रेम, त्याग, सहिष्णुता, और बलिदान की भावना होने से स्वर्ग में प्राप्त होने वाले सुख पृथ्वी पर ही प्राप्त हो जाते हैं। 'भारत' एक ऐसी दिव्य दृष्टि है जिसके द्वारा अंधकार, अज्ञान और संकीर्णता में बँधे हुए मनुष्य में परिवर्तन हो जाता है। वह मानव जाति के कल्याण की बात करता है। ऐसा मनुष्य केवल अपने सुखों की ही चिन्ता नहीं करता। 'भारत' ऐसा कमल का फूल है जिस पर वैर, कलह, काम, क्रोध, आदि का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः सन्त आचरण से मनुष्य 'भारत' रूपी कमल बन सकता है। 'भारत' वैराग्य की संज्ञा है जिसमें उज्वलता और आत्म-उत्थान समाहित है। उसमें थोड़े लाभ के लिए कुछ भी अनैतिक कार्य करने की भावना नहीं है। मनुष्य की सबसे बड़ी विजय होती है मन को जीतने की। उस विजय में भारत एक आधार का कार्य करता है। इस प्रकार कविता में भारत को कर्म, लक्ष्य, आधार और साधक बताया गया है। एक ऐसी समाधि 'भारत के कमल रूप की' कल्पना की गई है। जिसे राष्ट्रीय समाधि भी कह सकते हैं। उस समाधि में सभी भारतवासी एक हो जाते हैं। उनमें लोभ, वैर, कलह, आदि कुप्रवृत्तियों का अभाव हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय समाधि की कमल रूप में कल्पना के कारण उन्हें राष्ट्र कवि कहा गया होगा।

दूसरे प्रकार की राष्ट्रीय भावधारा की दिनकर के कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी आदि में देखा जा सकता है जिसमें इतिहास दृष्टि है। तीसरे प्रकार की राष्ट्रीय भावधारा की कविताओं में दिल्ली, नीम के पत्ते, हुँकार आदि संग्रह की कविताओं को रखा जा सकता है जिसमें तत्कालीन प्रेरणा प्रमुख रूप में दिखाई पड़ती है।

साहित्य समाज का दर्पण है। दिनकर की कविताओं में समाज में घटित कई घटनाओं का वर्णन है जैसे-सन् 1929 में भगत सिंह पकड़े गए और इसी समय कांग्रेस में पूर्ण स्वतन्त्रता संग्राम का प्रस्ताव पास हुआ। अंग्रेजी सरकार के दमन और उसके द्वारा दिल्ली में प्रवेशोत्सव मनाने को लक्ष्य करके लिखा

और कहे क्या? धरा न धंसती हुँकारता न गगन सँघाती हाय बन्दनी माँ के समुख सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती (दिल्ली) 1942 ई. में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का नारा दिया। भारत की साम्यवादी पार्टी ने साथ नहीं दिया उसी को लक्ष्य करके कहा अर्पित करो समिध आओ हे, समता के अभिमानी। इसी कुण्ड से निकलेगी भारत की लाल भवानी ॥

आजादी मिलने के बाद सत्ता की प्राप्ति के लिए छीना-झपटी होने लगी। जिन नेताओं ने आजादी की लड़ाई लड़ी उन्होंने ही अपनी स्वार्थ साधना में जीवन मूल्यों को भुला दिया है। दिनकर जी ने स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगाँठ के अवसर पर उस अवस्था का चित्रण इस प्रकार किया है। आजादी आई नहीं विकट कुहराम मचा, है मची हुई अच्छो-अच्छों में मारपीट, कहते हैं जो थे साधु सरीखे पाक साफ, डुबकियाँ लगा वे भी अब पानी पीते हैं। सन् 1942 ई. में चीन ने भारत पर आक्रमण किया। सारे देश में रक्षा के लिए हिंसा की आवश्यकता महसूस की गई। उस अवसर पर दिनकर जी ने कहा छोड़ो मत अपनी आन शीश कट जाए, मत झुको अनय पर भले व्योम फट जाए। दो बार नहीं यमराज कण्ठ धरता है, मरता है जो वह एक बार मरता है।

इस प्रकार दिनकर के काव्य में गुलामी, आजादी और चीनी आक्रमण इत्यादि अन्य घटनाओं को लक्ष्य करके देशवासियों को सचेत करने की प्रेरणा दिखाई पड़ती है। चीनी आक्रमण में चीन ने भारत की मित्रता के साथ विश्वासघात किया। उसी समय उन्होंने कहा गिराओ बम, गोली दागो, गाँधी की रक्षा करने को गाँधी से भागो यदि कोई हमारी अहिंसा का दुरुपयोग करेगा तो हम हिंसा का सहारा लेंगे क्योंकि गाँधी की अहिंसा को हम उसी माध्यम से सुरक्षित रख सकते हैं। गाँधी के प्रेम, देश सेवा, त्याग और अहिंसा की आवश्यकता हमें ही नहीं पूरे विश्व को है। यदि कोई इसे हमारी कमजोरी समझेगा तो हम उसकी रक्षा के लिए तैयार हों तभी अहिंसा की स्थापना की जा सकती है।

इस प्रकार रामधारी सिंह दिनकर हिन्दी के ऐसे आधुनिक कवि हैं जिनके साहित्य में राष्ट्रीयता प्रचुर मात्रा में मिलती है। वे चार दशकों तक राष्ट्रीय काव्य लिखते रहे। उनके साहित्य में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है। इसी कारण उन्हें राष्ट्र कवि ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय कवि भी कहा जा सकता है।